मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 92 ● वर्ष 10, अंक 11 ● जनवरी 2021 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

अमानवीय हालात के ख़िलाफ़ मज़दूरों की बग़ावत 5

करोड़ों बेघरों के देश में नयी संसद बनाने पर 25 हज़ार करोड़ रुपये फूँकने की तैयारी 6

कॉमरेड : एक कहानी – मक्सिम गोर्की 14

मज़दूर वर्ग को दोहरी आपदा देकर गया वर्ष 2020

मेहनतकशों की ख़ुशहाली के लिए आपदाओं की जड़ पूँजीवाद को उखाड़ फेंकना होगा

सम्पादक की ओर से

वर्ष 2020 की शुरुआत एक उम्मीद के साथ हुई थी क्योंकि दुनिया के तमाम हिस्सों में लोग भिन्न-भिन्न रूपों में पूँजीवादी व फ़ासीवादी सत्ताओं को जुझारू चुनौती दे रहे थे। भारत में भी नागरिकता संशोधन क़ानून और राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर के ख़िलाफ़ शाहीन बाग़ से शुरू हुए जनान्दोलन की आग पूरे देश में फैलती जा रही थी जिससे फ़ासिस्ट सत्ता के माथे पर बल साफ़ दिखायी देने लगे थे। लेकिन मार्च के महीने तक आते-आते दुनिया के अधिकांश हिस्से कोरोना महामारी की चपेट में आ गये। मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने की जुगत लगाने में मशग़ूल पूँजीवादी हुक्मरानों ने इस महामारी के सामने घुटने टेक दिये और मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था की क़लई खुलकर सामने आ गयी। देखते-देखते यह इतिहास में सबसे अधिक तेज़ी से फैलने वाली वैश्विक महामारी बन गयी और साल बीतते-बीतते कोरोना की ज़द में दुनिया के 8 करोड़ से ज़्यादा लोग आ गये जिनमें से क़रीब 18 लाख लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा। साम्राज्यवाद के सिरमौर अमेरिका में इस महामारी का सबसे ख़ौफ़नाक मंज़र देखने में आया। भारत में भी पिछले साल आधिकारिक रूप से 1 करोड़ से ज़्यादा लोग कोरोना संक्रमित हुए और इस बीमारी की वजह से क़रीब डेढ़ लाख लोगों की मौत हो गयी। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस आपदा और इससे निपटने के लिए लागू किये गये अनियोजित लॉकडाउन से सबसे ज़्यादा तबाही मज़दूर वर्ग की हुई। इसी दौरान फ़ासिस्ट हुक्मरानों ने गिद्ध की भाँति आपदा में भी अवसर ढूँढ़ते हुए मज़दूरों के हक़ों पर सबसे बड़ा हमला बोलते हुए श्रम अधिकारों को बेरहमी से छीन लिया। इस प्रकार ख़ास तौर पर मज़दूर वर्ग के लिए इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक का समापन एक दु:स्वप्न सरीखे हालात में हुआ।

राष्ट्रीय पटल पर बीते साल की प्रमुख घटनाएँ

पिछले साल की शुरुआत में सीएए-एनआरसी के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए ऐतिहासिक जनान्दोलन को कुचलने के लिए फ़ासिस्टों ने साम-दाम-दण्ड-भेद सबकुछ अपनाया। जेएनयू के छात्रों पर गुण्डों से हमला करवाया गया और देशभर में एक बार फिर भगवा राष्ट्रवाद की लहर चलाकर भाँति-भाँति की साज़िशें रचकर शाहीन बाग़ के आन्दोलन को बदनाम करने की शर्मनाक कोशिशें की गयीं। पर इन सभी साज़िशों के बावजूद दिल्ली विधानसभा (पेज 13 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

कुछ बुनियादी बातें और कुछ ग़लत दावों का खण्डन

● अभिनव

किसान आन्दोलन को चलते हुए अब क़रीब डेढ़ महीना बीत चुका है। हज़ारों किसान दिल्ली के बॉर्डरों पर इकट्ठा हैं। हम मज़दूरों और मेहनतकशों को जानना चाहिए कि इस आन्दोलन की माँगें क्या हैं। केवल तभी हम यह तय कर सकते हैं कि हमारा इसके प्रति क्या रवैया हो। हम मज़दूरों और मेहनतकशों के लिए सरकार के उन तीन कृषि क़ानूनों का क्या अर्थ है, जिनके ख़िलाफ़ यह आन्दोलन जारी है? हमारे लिए यह समझना भी ज़रूरी है, क्योंकि तभी हम इन तीन क़ानूनों को अलग-अलग समझ सकते हैं और आन्दोलन के प्रति अपना रुख़ तय कर सकते हैं।

अपनी राजनीतिक चेतना और समझ बनाने के लिए और समाज में जारी वर्ग संघर्ष में अपनी स्वतंत्र अवस्थिति बनाने के लिए अनिवार्य है कि मज़दूर वर्ग हर मसले पर अपनी वर्गीय सोच के साथ और अपने मित्र वर्गों के वर्ग हितों के अनुसार एक ठोस राय बनाये। ये बहुत ही अहम सवाल हैं जिनसे हम अलग-थलग नहीं रह सकते हैं। लेकिन इन्हें समझने के लिए हमें कुछ बेहद बुनियादी बातों के साथ शुरुआत करनी चाहिए।

1. किसान कौन है?

यह सबसे पहला बुनियादी सवाल है। जब हमारे देश में सामन्ती जागीरदारी की व्यवस्था हावी थी, तब हर प्रकार और हर आकार के किसान का एक साझा दुश्मन था। खेतिहर मज़दूरों व बँधुआ मज़दूरों का भी वही साझा दुश्मन था। यह दुश्मन था सामन्ती ज़मीन्दार। सामन्ती ज़मीन्दार कौन होता है? सामन्ती ज़मीन्दार वह ज़मीन्दार होता था, जो कि आम किसान आबादी से लगान वसूल करता था, गाँव में उसके पास सरकार जैसी शक्ति होती थी, वह सिर्फ़ आर्थिक तौर पर नहीं लूटता, बल्कि उसकी आर्थिक लूट टिकी ही उसके राजनीतिक दबदबे और चौधराहट पर होती थी। वह अपनी ऐयाशी और ऐशो-आराम के मुताबिक़ कितना भी लगान वसूलता था। वह अपनी ज़मीन पर बाज़ार के लिए और मुनाफ़े के लिए खेती नहीं करवाता था, बल्कि वह पूरी तरह से किसानों से वसूले जाने वाले लगान पर निर्भर करता था।

यह सामन्ती ज़मीन्दार धनी किसान, मँझोले किसान, ग़रीब किसान व काश्तकार, और खेतिहर मज़दूर सबको लूटता और दबाता था और इन सभी का साझा दुश्मन था।

आज़ादी के बाद कहने के लिए ज़मीन्दारी उन्मूलन क़ानून बना। लेकिन इसे कुछ बेहतर तरीक़े से जम्मू-कश्मीर और केरल में ही लागू किया गया; बाक़ी राज्यों में इसे बहुत ही गये-बीते ढंग से लागू किया गया और कुछ राज्यों में तो नाममात्र ही लागू किया गया। लेकिन खेती को पूँजीवादी रूप में ढालना भारत के नये हुक्मरानों, यानी नये औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए ज़रूरी था। नतीजतन, उनकी नुमाइन्दगी करने वाली नयी सरकार ने इन सामन्ती ज़मीन्दारों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील होने का मौक़ा दिया।

पूँजीवादी भूस्वामी कौन होता है? पूँजीवादी भूस्वामी वह होता है, जो पूँजीवादी लगान वसूलता है। पूँजीवादी लगान क्या होता है? इस

आगे :

2. लाभकारी मूल्य की माँग कौन-से किसान की माँग है? – लाभकारी मूल्य या एमएसपी क्या होता है?
3. खेतिहर मज़दूरों की माँगें क्या हैं?
4. सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों की क्या माँगें हैं?
5. किसी आन्दोलन का वर्ग-चरित्र कैसे तय होता है?
6. क्या मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन है?
7. क्या एमएसपी को बचाना सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए ज़रूरी है?

(पेज 7 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

किसान आन्दोलन के सन्दर्भ में मेरे गाँव के कुछ अनुभव

अभी हाल ही में मेरा गाँव जाना हुआ (जो उत्तर प्रदेश के फ़ैज़ाबाद ज़िले में है)। मुझे पहले थोड़ा आश्चर्य हुआ कि गाँव में या रास्ते में बस और टैक्सी में लोगों के बीच किसान आन्दोलन की कोई सुगबुगाहट या चर्चा तक नहीं सुनाई पड़ी। जबकि शहरों में "अन्नदाताओं के आन्दोलन" को लेकर मध्यम वर्ग में काफ़ी भावुकतापूर्ण उद्गार सुनने को मिल रहे थे। मेरे परिचितों में भी और सोशल मीडिया के ज़रिए भी।

गाँव में कुछ किसानों से बात की तो उनका कहना था कि यहाँ सब छोटे किसान हैं, हमको अपने कमाने-खाने के लाले पड़े हैं, हम कहाँ जाकर लड़ाई लड़ेंगे? जो लोग अपनी माँगों को लेकर लड़ रहे हैं वे सब बड़े किसान हैं। उनकी तो सरकार सुन नहीं रही है, हमारी कौन सुनेगा? वैसे भी एमएसपी मिले या न मिले, हम तो "लोकल आदमी" को ही बेचते हैं, ताकि जल्दी पैसा मिल जाये। सरकारी रेट तो यहाँ शायद ही किसी को मिलता है। आन्दोलन के नाम पर टिकैत की यूनियन व किसान सभा की ओर से केवल एक घण्टे टोल प्लाज़ा को जाम करने कार्यक्रम चला था बस।

यह पूछने पर कि आस-पास के किसानों के पास कितनी बड़ी जोतें हैं, पता चला कि ज़्यादातर के पास एक बीघा से 10 बीघे के आस-पास ज़मीनें हैं। एक या दो लोग ही हैं जिनके पास 4-5 बीघे हैं। ज़्यादातर घरों के नौजवान काम करने के लिए दिल्ली-मुम्बई या दूसरे शहरों में जा चुके हैं। गाँव में न तो काम मिलता है, न खेती की आमदनी से गुज़ारा होता है। उल्टे शहर से आने वाले पैसे न मिलें, तो न घर चले, न खेतीबाड़ी का काम हो पाये।

इस समय गन्ना किसान अपनी फसल को मिलों में बेचने के लिए लखीमपुर से आये ठेके के मज़दूरों की मदद ले रहे हैं। गाँव में पशुओं की तादाद तेज़ी से घटी है। बैल रखना पुराने दिनों की बात हो चुकी है। तब लोग पशुओं के चारे के लिए गन्ना किसानों के यहाँ जाकर गन्ने को छीलकर बाँधते थे और बदले में गन्ने की पत्ती चारे के लिए घर ले जाते थे। अब तो गाँवों के छोटे किसान, जिनके घर के युवा शहरों में जाकर उद्योग-धन्धों में खट रहे हैं, उन्हें भी ठेके पर धान की रोपाई, गन्ने व गेहूँ की बुवाई-कटाई करवानी पड़ रही है। 5-6 मज़दूरों का एक दल 4000 रुपये बीघा के हिसाब से गन्ना काटकर, छीलकर ट्राली में लोड करने का काम करता है। दिन भर में करीब एक बीघा का काम होता है। एक किसान ने कहा कि हम से भले तो यही हैं, जब चाहे, जहाँ जाकर काम कर लेते हैं और कमाई भी हमसे ज़्यादा ही है।

– लालचन्द्र, लखनऊ

होण्डा मानेसर प्लाण्ट में इस बार परमानेंट मज़दूरों की वी.आर.एस. के नाम पर छँटनी का नोटिस जारी!

(पेज 3 से आगे)

इस बार मज़दूर एकजुट होकर प्रतिरोध कर पायेंगे या नहीं। साथ ही इस छँटनी पर अन्य परमानेंट मज़दूर, उनकी यूनियन, उनकी फेडरेशन, टी.यू.सी. कुछ कर पायेगी या फिर पुरानी कहानी ही दोहराई जायेगी और मज़दूर घर की राह पकड़ लेंगे।

कम्पनी का तर्क और उसकी सच्चाई

वैसे तो कम्पनी अपने नोटिस में भारतीय ऑटो उद्योग में कोरोना वायरस का संकट और आर्थिक गिरावट का रोना रो रही है। लेकिन वास्तव में ऑटो सेक्टर भारत की अर्थव्यवस्था समेत कोरोना काल से पहले से ही लम्बी मंद मंदी का शिकार थी, कोविड-19 ने तो महज संकट को एक और ज़ोरदार लात देकर इस संकट में धकेलने का ही काम किया है। और अब कम्पनियाँ इस आपदा में अवसर का लाभ लेते हुए परमानेंट मज़दूर से छुटकारा पाना चाह रहीं हैं ताकि आगे से कच्चे/ठेका मज़दूरों को ही काम पर रखा जा सके।

यह भी भूलना नहीं चाहिए कि कोरोना (कोविड-19) फैलने के पीछे वास्तव में मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था और मोदी सरकार की लापरवाही ही जिम्मेदार है और बाद में कोरोना काल में मज़दूरों को उनके अपने हाल पर मरने के लिए सड़कों पर छोड़ दिया गया था। अब मज़दूरों को बेरोज़गार किया जा रहा है।

वास्तव में संकट का मूल कारण मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था की आपसी कुत्ताघसीटी ही है। मुनाफ़े के लिए पूँजीपति एक-दूसरे के मुँह से हड्डी झपटने में लगे रहते हैं। जिसकी वजह से पूँजीपतियों के मुनाफ़े की दर घटने का रूझान बढ़ता ही जा रहा है। ऐसे में पूँजीपति अपने संकट का सारा बोझ मज़दूरों की छँटनी, वेतन कटौती, ज़्यादा व तेज़ उत्पादन टारगेटों की माँग का दबाव बनाकर, काम के घण्टे का बढ़ाकर आदि तरीकों से मज़दूर पर ही डालते हुए उसकी ज़िन्दगी और मुश्किल बना देते हैं।

मज़दूरों को अपने पर पड़ रहे संकट के बोझ को कम करने यानी अपने रोज़गार को बचाने व वेतन को बचाने, अपने कार्यकाल को बचाने के लिए पूरी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की इस आदमख़ोर सच्चाई को समझना होगा ताकि अपनी एकताबद्ध कतारों से इसका मुकाबला करते हुए इससे सदा के लिए मुक्ति के रास्ते की ओर बढ़ सके।

ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन ने विभिन्न कम्पनियों के मज़दूरों से आग्रह किया है कि अपनी-अपनी कम्पनियों में हो रही छँटनी या पहले से हुई छँटनी के बारे में ज़रूर जानकारी दें ताकि इसके आधार पर कम्पनियों की तथाकथित मनमानियों-छँटनियों और सरकारों की अनदेखी और मज़दूर-विरोधी फ़ैसलों के ख़िलाफ़ संघर्ष को आगे बढ़ाया जा सके।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

उत्तर प्रदेश में रोडवेज़ कर्मचारी भी अब निजीकरण के ख़िलाफ़ आन्दोलन की राह पर

उत्तर प्रदेश में योगी आदित्यनाथ की सरकार जहाँ एक ओर प्रदेश को हिन्दुत्व की साम्प्रदायिक-फ़ासीवादी प्रयोगशाला बनाने पर उतारू है वहीं दूसरी ओर वह सार्वजनिक उपक्रमों का धड़ल्ले से निजीकरण करने की योजना को तेज़ रफ़्तार से लागू करने की बेशर्म कोशिशें भी कर रही है। प्रदेश में बिजली के निजीकरण की उसकी योजना भले ही कर्मचारियों की जुझारू एकजुटता की वजह से खटाई में पड़ गयी है, लेकिन अन्य विभागों में निजीकरण की प्रक्रिया तेज़ी से आगे बढ़ रही है। मिसाल के लिए योगी सरकार ने पिछले साल सितम्बर के महीने में परिवहन विभाग के निजीकरण का मार्ग प्रशस्त करते हुए दो राष्ट्रीयकृत मार्गों पर निजी बसें चलाने की मंज़ूरी दे दी। लेकिन अच्छी बात यह है कि बिजली कर्मचारियों की ही तरह रोडवेज कर्मचारियों ने भी सरकार की मंशा को भाँपते हुए एकजुट होकर निजीकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी शुरू कर दी है।

ग़ौरतलब है कि उत्तर प्रदेश सरकार ने पिछले साल सितम्बर में प्रदेश के दो प्रमुख राष्ट्रीयकृत मार्गों - लखनऊ-गोरखपुर (वाया अयोध्या-विक्रमजोत-बस्ती) और लखनऊ-आगरा-नोएडा एक्सप्रेसवे (वाया रिंग रोड कुबेरपुर (आगरा)-परी चौक) – पर निजी बसें चलाने की अनुमति दे दी थी। रोडवेज के कर्मचारियों को यह समझते देर न लगी कि यह उत्तर प्रदेश राज्य परिवहन निगम को ध्वस्त करके निजी परिवहन कम्पनियों को मुनाफ़ा पीटने की बेरोकटोक छूट देने की दिशा में उठाया गया क़दम है। प्रदेश में कुल 2,428 मार्गों में 424 राष्ट्रीयकृत मार्ग हैं जिनमें अब तक केवल सरकारी बसों के चलने की अनुमति है। इनमें से दो राष्ट्रीयकृत मार्गों में निजी बसों को अनुमति मिलने के बाद भविष्य में अन्य राष्ट्रीयकृत मार्गों पर भी निजी बसों को अनुमति मिलना आसान हो जाएगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि योगी सरकार ने यह फ़ैसला निजी परिवहन कम्पनियों के मालिकों को ख़ुश करने के लिए किया है जिनसे मुख्यमंत्री की पार्टी को फ़ण्डिंग मिलती है। इस फ़ैसले के समर्थन में यह तर्क दिया जा रहा है कि राष्ट्रीयकृत मार्गों पर वैसे ही ग़ैर-क़ानूनी रूप से निजी वाहन चलते हैं। लेकिन कोई भी तार्किक आदमी समझ सकता है कि ऐसे में सरकार की ज़िम्मेदारी यह होनी चाहिए थी कि वह ग़ैर-क़ानूनी रूप से चलने वाली बसों पर नियंत्रण करती और सरकारी बसों की संख्या बढ़ाती ताकि लोगों को भी सहूलियत हो और परिवहन निगम के कर्मचारियों का भविष्य भी अनिश्चित न हो।

उत्तर प्रदेश राज्य परिवहन निगम की कुल लगभग 12 हज़ार बसें प्रदेश में चलती हैं और निगम में क़रीब 52 हज़ार कर्मचारी काम करते हैं जिनमें ड्राइवर, कण्डक्टर, वर्कशॉप स्टाफ़ शामिल हैं। ये कर्मचारी निगम के निजीकरण से ख़ौफ़ज़दा हैं क्योंकि उनकी सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा ख़तरे में आ जाएगी। ग़ौरतलब है कि निगम में केवल साढ़े 18 हज़ार कर्मचारी ही स्थायी हैं। क़रीब 34 हज़ार कर्मचारी संविदा पर काम करते हैं। संविदा कर्मियों में से अधिकांश की तनख़्वाह 10 हज़ार रुपये से भी कम है और उन्हें समय पर वेतन भी नहीं मिलता। कई संविदा कर्मियों को कोरोना काल में भी समय पर वेतन नहीं मिला था जिसको लेकर उन्होंने पिछले साल हड़ताल भी की थी। पहले इन संविदा कर्मियों को यह उम्मीद थी कि परिवहन निगम के रहते किसी दिन उन्हें भी स्थायी कर्मचारी का दर्जा मिलेगा। परन्तु निगम में निजीकरण की शुरुआत से इस उम्मीद पर पानी फिरता दिख रहा है।

रोडवेज के कर्मचारियों ने निजीकरण को रोकने के लिए और अपनी अन्य माँगों को लेकर संघर्ष करने के लिए एक संयुक्त संघर्ष मोर्चा बनाया है जिसके बैनर तले उन्होंने आन्दोलन की राह पकड़ ली है। इस मोर्चे की प्रमुख माँगें हैं: राष्ट्रीयकृत मार्गों पर निजी बसों की परमिट पर रोक लगे, 206 मार्गों को राष्ट्रीयकृत मार्ग घोषित किया जाये, 2001 तक के संविदा कर्मियों की नियमित भर्ती हो, नियमित कर्मियों के बक़ाये महँगाई भत्ते का भुगतान हो, मृतक आश्रितों की भर्ती व बक़ाये का भुगतान किया जाये, संविदा चालक-परिचालकों को हर साल नियमित किया जाये, आउटसोर्स कर्मियों को वरीयता दी जाये और निगम में ठेकेदारी प्रथा पर रोक लगे। बड़ी बात यह है कि इन माँगों के तहत स्थायी व संविदा दोनों तरह के कर्मी एकजुट हो गये हैं जिससे उनकी ताक़त बढ़ गयी है। पिछले साल रोडवेज कर्मियों ने कई बार एक-दिवसीय हड़ताल व प्रदर्शन किये, परन्तु अभी तक सरकार की तरफ़ से चूँ तक नहीं निकली है। ऐसे में कर्मचारी अब बड़ा आन्दोलन करने की योजना बना रहे हैं।

बिजली के कर्मचारियों के बाद अब रोडवेज के कर्मचारियों का आन्दोलन की राह पकड़ना एक अच्छा संकेत है। यह दिखाता है कि फ़ासीवाद सतह पर भले ही कितना आक्रामक दिखे, लेकिन चूँकि वह लोगों की ज़िन्दगी तबाह और बरबाद करके आगे बढ़ता है, इसलिए लोग भी स्वत:स्फूर्त ढंग से प्रतिरोध के रास्ते निकालते रहते हैं। परन्तु यह भी सच है कि एक सटीक रणनीति और समझौताविहीन नेतृत्व के अभाव में उनका प्रतिरोध आगे नहीं बढ़ पाता है। ऐसे में बेहद ज़रूरी हो जाता है कि मज़दूर वर्ग के ऐतिहास मिशन यानी पूँजीवाद को उखाड़-फेंकने की लड़ाई के साथ ही साथ उसके अहम अंग के रूप में ऐसे तात्कालिक मुद्दों पर भी संघर्ष किया जाये।

– बिगुल संवाददाता

होण्डा मानेसर प्लाण्ट में इस बार परमानेंट मज़दूरों की वी.आर.एस. के नाम पर छँटनी का नोटिस जारी!

इस बार जापान की ऑटोमोबाइल निर्माता कम्पनी होण्डा मोटर साईकिल व स्कूटर इण्डिया (एच.एम. एस. आई.) ने मानेसर प्लाण्ट में भी तथाकथित वी.आर.एस.(सवैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना) के नाम पर छँटनी का नोटिस चिपका दिया गया है।

होण्डा ग्रेटर नोएडा प्लाण्ट में वीआरएस का सच:

ज्ञात रहे कि पिछले ही महीने होण्डा के चौपहिया वाहन के ग्रेटर नोएडा प्लाण्ट के मज़दूरों वहाँ कथाकथित वी.आर.एस. के नाम पर की गई छँटनी पर रोष व्यक्त कर रहे हैं कि किस तरह उन्हें डरा, धमकाकर,भरमाकर व जबरन वी.आर.एस. पर हस्ताक्षर करवाये गये और उन्हें काम न करने लायक (अनफिट) बता रही थी और पूरा मुआवजा भी नही दिया गया है। मज़दूर श्रम विभाग, प्रशासन, नेताओं व सरकार के आगे गुहार पर गुहार लगा रहे हैं कि वे रोज़गार के संकट से जूझ रहे हैं, उनके साथ अन्याय हो रहा है लेकिन कहीं भी उन्हें न्याय नहीं मिल पा रहा है। ऊपर से कम्पनी के परमानेंट मज़दूरों की यूनियन पर भी छँटनी हुए मज़दूरों का रोष है, क्योंकि उसने किसी तरह इस मैनेजमेंट की जबरन सेवानिवृत्ति के ख़िलाफ़ कोई चुनौतीपूर्ण संघर्ष नहीं किया। कम्पनी अपने अख़बारी बयानों से साफ़ में कह रही है कि वह मज़दूर यूनियन की सहमति से वीआरएस को लेकर आई है।

होण्डा मानेसर प्लाण्ट में दोबारा में छँटनी का दौर:

यह भी ज्ञात रहे एक साल पहले ही होण्डा के मानेसर प्लाण्ट के लगभग 2500 कैजुअल मज़दूरों की, जो कई सालों से काम कर रहे थे, एक झटके से छँटनी करके उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया था। वहां महीनों आन्दोलन चलने के बावजूद और यूनियन बॉडी के कुछ लोगों के निलम्बन के बावजूद कम्पनी की परमानेंट यूनियन और इलाक़े की ट्रैड यूनियन काउंसिल भी कुछ नहीं कर पाई थी। कुछ बड़े यूनियन नेता, जो अपनी फेडरेशन के जिला स्तर के नेता भी थे, यूनियन में चुनाव के बाद चुपचाप वी.आर.आर. लेकर घर की राह पकड़ ली और कुछ न होता देख होण्डा के कैजुअल मज़दूरों को भी मज़बूरन हिसाब लेना पड़ा, जिस पर आज भी मज़दूरों के दिलों में रोष है।

इस पर ध्यान देने की सख़्त ज़रूरत है कि क्या मज़दूर वास्तव में स्वैच्छा से ही वी.आर.एस. ले रहें हैं या फिर ग्रेटर नोएडा की तरह उन्हें भी आपस में बाँट कर, एक-एक मज़दूर को डरा-धमकाकर, भरमाकर, लालच देकर सेवानिवृत्ति पर हस्ताक्षर कराया जा रहा है। यह भी देखना होगा कि, क्या **(पेज 2 पर जारी)**

लॉकडाउन और सरकारी उपेक्षा का शिकार स्कीम वर्कर्स भी बनीं

– वृषाली

कोविड-19 महामारी के दौर में सरकार की लपरवाहियों का खामियाज़ा सबसे ज़्यादा मेहनतकश आवाम ने ही भुगता है और अब तक भुगत भी रही है। केन्द्र सरकार ने न तो महामारी को रोकने के लिए ही उचित कदम उठाये तथा न ही इसके नाम पर थोपे गये लॉकडाउन के दौरान ही जनता के सुख-दुख का ख़याल किया। नतीजतन, एक मजदूरों की बहुत बड़ी आबादी अचानक लागू कर दिये गये लॉकडाऊन के बाद पैदल घर वापस सफ़र करने को मजबूर हो गयी। दूसरी ओर स्वास्थ्यकर्मियों के लिए ताली-थाली बजाने व फूल बरसाने में मशगूल केन्द्र सरकार ने वक़्त रहते ज़रूरी बचाव सामग्री का भी इन्तज़ाम नहीं किया। इसी लापरवाही का शिकार जमीनी स्तर पर कार्यरत तकरीबन 39 लाख आँगनवाड़ी व आशाकर्मी भी हुईं। महामारी के दौर में इन महिलाकर्मियों का काम न सिर्फ़ जारी रहा बल्कि दुगुना भी हो गया। 'स्वयंसेविकाओं' के नाम से सम्बोधित आँगनवाड़ी व आशा महिलाकर्मियों को सस्ते श्रम के रूप में केन्द्र और राज्य सरकारें लम्बे समय से इस्तेमाल करती आयी हैं। आशाकर्मी मुख्यतः देशव्यापी स्तर पर सामाजिक स्वास्थ्य कर्मियों के तौर पर कार्यरत हैं व आँगनवाड़ीकर्मियों का मुख्य काम पोषाहार वितरण व 6 साल तक के बच्चों की प्री-स्कूलिंग का है। इन जिम्मेदारियों के अलावा कोविड महामारी के दौर में इन महिलाकर्मियों ने घर-घर जाकर सर्वेक्षण किये। इन्होंने सम्भावित कोविड मरीजों को चिन्हित किया और घर-घर जा कर महामारी से बचाव हेतु नागरिकों को जागरूक भी किया। लेकिन ज़मीनी स्तर पर महामारी के दौरान कार्यरत आशा व आँगनवाड़ीकर्मियों को बचाव की ज़रूरी सामाग्री भी मुहैया नहीं कारवाई गयी।

21 सितम्बर की ऑक्सफ़ेम की एक रिपोर्ट के अनुसार आशाकर्मियों में सिर्फ़ 52 फीसदी महिलाकर्मियों के पास दस्ताने व 75 फीसदी महिलकर्मियों के पास मास्क थे। इसके इतर केवल 23 फीसदी महिलाकर्मियों को पीपीई सुरक्षा किट मुहैया करायी गयी थी व सिर्फ़ 76 फीसदी आशाकर्मियों को सुरक्षा किट सम्बन्धी ज़रूरी जानकारी के लिए ट्रेन किया गया था। लगभग 29 फीसदी आशाकर्मी 8 घण्टे से ज़्यादा वक़्त फ़ील्ड में सक्रिय थी, व तकरीबन 42 फीसदी कर्मी 6-8 घण्टे कार्यरत थी। महामारी के दौरान फैली अफवाहों के कारण कई बार सर्वेक्षण पर गयी आँगनवाड़ी व आशाकर्मियों को लोगों की बेवजह नाराज़गी का भी सामना करना पड़ा।

महिला एवं बाल विकास विभाग व स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मन्त्रलाय के तहत कार्यरत आँगनवाड़ी व आशा कर्मियों द्वारा दी जा रही सेवाएँ सामाजिक वितरण प्रणाली का एक अहम हिस्सा हैं। इस प्रणाली को और बेहतर कर सुविधाओं की गुणवत्ता बढ़ाने के बदले सरकार जनवितरण प्रणाली को ख़त्म कर निजी हाथों में सौंपने की तैयारी में बैठी है। लॉकडाउन के दौरान सिर्फ़ राजस्थान में ही तक़रीबन 8 लाख नये लाभार्थियों ने आँगनवाड़ी केन्द्रों में पंजीकरण कराया। लेकिन आँगनवाड़ी केन्द्रों की वितरण प्रणाली का समुचित उपयोग करके जहाँ घर-घर तक मास्क, सैनिटाइजर व राशन पहुँचाने के काम को सरकार आसानी से अंजाम दे सकती थी, वहाँ इन महिलाकर्मियों को ही ज़रूरी बचाव सामग्री तक भी मुहैय्या नहीं करवायी गयी।

यह अप्रत्याशित नहीं है कि देखभालकर्ता के तौर पर आँगनवाड़ी केन्द्रों व अशाकर्मियों के तौर पर महिलाओं की ही नियुक्ति क्यों तय की गयी है। देखभालकर्ता का काम महिला विशेष के काम के तौर पर देखा जाता है और इस काम की महत्ता कम आंकी जाती है। इसलिए आँगनवाड़ी व आशाकर्मी अपनी निर्धारित ज़िम्मेदारियों के अलावा अन्य कई काम करने के बावजूद 'स्वयंसेविकाएँ' हैं किन्तु सरकारी कर्मचारी नहीं। महामारी के दौर में कार्यरत इन महिलाकर्मियों के लिए सरकार ने अलग से प्रोत्साहन राशि देना तो दूर, प्रधानमन्त्री मोदी द्वारा सितम्बर 2018 में घोषित बढ़ाया हुआ मानदेय भी जारी नहीं किया है। प्रधानमंत्री ग़रीब कल्याण योजना के तहत आशाकर्मियों को कोविड से बचाव के लिए 50 लाख के बीमे का प्रावधान किया गया था लेकिन ऑक्सफैम की रिपोर्ट के अनुसार केवल 38 फ़ीसदी आशाकर्मियों को इसकी सूचना है।

कहना नहीं होगा कि मज़दूर वर्ग के अलग-अलग हिस्सों पर कोरोना महामारी को काबू करने के नाम पर थोपे गये लॉकडाउन की बदइन्तज़ामियाँ कहर बनकर टूट पड़ी। आँगनवाड़ी और आशा कर्मी भी इससे बच नहीं पायी। उन्हें खासतौर पर लॉकडाउन के दौरान लगातार मानसिक यन्त्रणा से गुजरना पड़ा है। मोदी सरकार 20 लाख करोड़ की राहत देने के ढोल बजाती रही और पीएम केयर के नाम पर इकट्ठा किया गया सारा धन डकार गयी। क्या सरकार को नहीं चाहिए था कि कम से कम ज़मीनी काम में लगे कर्मियों को तो उच्च गुणवत्ता वाली सामग्री उपलब्ध करवायी जाती? हम आँगनवाड़ी और आशा कर्मियों के सामने भी यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हम अपने हक़ों की हिफाज़त संघर्ष और एकजुटता के बल पर ही कर सकते हैं। और इस कड़ी में स्थायी रोज़गार व कम से कम न्यूनतम वेतन जितना पारिश्रमिक पाने की लड़ाई हमारे संघर्ष के पहले मील के पत्थर होंगे।

प्रथम स्त्री शिक्षिका सावित्रीबाई फुले के जन्मदिवस पर जातितोड़क भोजों का आयोजन

जाति व्यवस्था को इतिहास में हर शासक वर्ग ने अपने तरीक से इस्तेमाल करने का काम किया है। मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था ने भी जाति प्रथा को अपने ढाँचे के साथ सहयोजित कर लिया है। पूँजीवादी चुनावी राजनीति भी जाति व्यवस्था के पूरे ढाँचे को बना कर रखने का काम करती रही है और यह मौजूदा पूँजीवादी जाति व्यवस्था मेहनतकश वर्ग की क्रान्तिकारी लामबन्दी को कमजोर करने का काम करती है। आज निरन्तर ऐसे कार्यक्रमों के आयोजन की ज़रूरत है जो जाति व्यवस्था को तोड़कर मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी लामबन्दी कायम कर सकें। इसी के तहत नौजवान भारत सभा द्वारा सावित्रीबाई फुले के जन्मदिवस पर जगह-जगह जाति तोड़क भोज, चर्चा और अन्य कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

आज ज़्यादातर लोग इस बात को नहीं जानते कि भगतसिंह और उनके साथियों द्वारा स्थापित 'नौजवान भारत सभा' लोगों के बीच के आपसी भेदभाव दूर करने और गोरी हुकूमत से लड़ने के लिए एकता की भावना विकसित करने के उद्देश्य से अक्सर सामाजिक सहभोज आयोजित करती थी। इन कार्यक्रमों में सभी जातियों और सम्प्रदायों के लोग भोज में आमन्त्रित किये जाते थे जहाँ वे एक-दूसरे को भोजन परोसते थे। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अब नौभास की ओर से इन कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है क्योंकि उस दौर से लगभग एक शताब्दी का समय बीत जाने के बाद भी जाति-धर्म की दूरियाँ बनी हुई हैं।

उत्तर प्रदेश में चित्रकूट के भैरमपुर गाँव में नौजवान भारत सभा की ओर से जाति-तोड़क भोज का आयोजन और 'सावित्रीबाई फुले की विरासत और जाति उन्मूलन का रास्ता' विषय पर सभा की गयी। सभा और जाति-तोड़क भोज में आस-पास के 7-8 गाँवों के लोगों ने भागीदारी की। नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने इन गाँवों में

लोगों के घर-घर जाकर जाति-तोड़क भोज के लिए राशन आदि इकट्ठा किया था। सभा की शुरुआत क्रान्तिकारी गीत 'अभी लड़ाई जारी है' से की गयी। सभा में नौजवान भारत सभा के प्रसेन ने सावित्रीबाई फुले की विरासत और जाति उन्मूलन के लिए संघर्ष के सवाल पर विस्तार से बातचीत रखी। नौजवान भारत सभा द्वारा संचालित शिक्षा सहायता मण्डल के बच्चों ने भी कार्यक्रम में क्रान्तिकारी गीत पेश किये। जाति-तोड़क भोज के लिए खाना तैयार करने और खाने-खिलाने में अलग-अलग जातियों के महिलाओं और पुरुषों ने भागीदारी करके जाति-व्यवस्था के खिलाफ़ संघर्ष जारी रखने और अलग-अलग रूपों में जाति-विरोधी कार्यक्रमों को जारी रखने के संकल्प को दुहराया। जाति-तोड़क भोज में लगभग 800 लोगों ने भागीदारी की जिनमें सभी जातियों के लोग शामिल थे। यद्यपि जाति-तोड़क भोज में सवर्ण जातियों के लोगों की संख्या कम थी लेकिन सवर्ण जातियों के भी कई लोग अपने परिवार सहित जाति-तोड़क भोज में शामिल होने पहुँचे थे।

नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं द्वारा अम्बेडकरनगर के नथमलपुर हेठरिया गाँव में जाति-तोड़क भोज और विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें आस-पास के लगभग 15 गाँवों के लोग शामिल हुए। इन गाँवों में पिछले लम्बे समय से नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ता विभिन्न सवालों पर प्रचारात्मक-आन्दोलनात्मक गतिविधियाँ करते रहे हैं। पिछले दिनों इन गाँवों में बिजली बिल में फ़र्ज़ी बढ़ोत्तरी के खिलाफ़ नौभास के कार्यकर्ताओं ने लोगों को संगठित करके आन्दोलन किया था, जिसमें जीत हासिल हुई और प्रशासन को झुकने पर मजबूर किया गया था। इन आन्दोलनों में महिलाओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की थी। नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ता पिछले कई दिनों से घर-घर जाकर जाति-तोड़क भोज के लिए लोगों से राशन आदि जुटा रहे थे। सभा की शुरुआत क्रान्तिकारी गीत 'महिलाएं गर उठी नहीं तो ज़ुल्म बढ़ता जाएगा' से की गयी। सभा के दौरान मित्रसेन और बिन्द्रेश ने सावित्रीबाई फुले के जीवन और विचारों पर बातचीत की। अन्त में आज के समय में उनकी विरासत को आगे बढ़ाने, जातिगत भेदभाव और महिलाओं के दोयम दर्जे के खिलाफ़ संघर्ष का संकल्प लिया गया। जाति-तोड़क भोज में खाना बनाने से लेकर खाने-खिलाने में अलग-अलग जातियों के लोगों ने मिल-जुलकर हिस्सा लिया। अम्बेडकरनगर में आयोजित इस जाति तोड़क भोज में लगभग 300 लोग शामिल हुए।

गोरखपुर के बिछिया स्थित अरविन्द स्मृति पुस्तकालय पर नौजवान भारत सभा के सदस्यों ने सावित्रीबाई फुले की स्मृति में जाति तोड़क भोज का आयोजन किया। इसके पहले सावित्रीबाई फुले के जन्मदिवस की पूर्वसंध्या पर नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं द्वारा बिछिया स्थित रामलीला मैदान में सभा करके सावित्रीबाई फुले की विरासत पर बातचीत की गयी। सभा के दौरान नौभास के कार्यकर्ताओं ने 'देश को आगे बढ़ाओ' नुक्कड़ नाटक का भी मंचन किया। बिछिया मुहल्ले में नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं द्वारा शिक्षा सहायता मण्डल का संचालन किया जाता है। नौजवान भारत सभा द्वारा आयोजित इस भोज के लिए राशन आदि स्थानीय आबादी के बीच से जुटाया गया।

इलाहाबाद में नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने सावित्रीबाई फुले के जन्मदिवस पर ढरहरिया और बक्शीबाँध स्थित झुग्गी बस्ती में नुक्कड़ सभाएँ कीं। सभाओं के दौरान क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किये गये और लोगों को सावित्रीबाई फुले की विरासत से परिचित कराया गया। उरई में नौजवान भारत सभा की ओर से सावित्रीबाई फुले के जन्मदिवस पर उरई स्थित शहीद भगतसिंह पुस्तकालय पर गोष्ठी की गयी। नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने गाज़ीपुर के अलावलपुर अफ़गा में पोस्टर प्रदर्शनी लगाकर पर्चे वितरित किये और सावित्रीबाई फुले की विरासत पर बात की गयी। मऊ के नवापुरा में नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने सावित्रीबाई फुले के जन्मदिवस पर सभा की और सावित्रीबाई फुले के संघर्ष से प्रेरणा लेते हुए जाति उन्मूलन, समान शिक्षा और समाज में महिलाओं की दोयम दर्जे की स्थिति के खिलाफ संघर्ष के संकल्प को दुहराया।

– बिगुल संवाददाता

डॉक्टरों-नर्सों पर फूल बरसाने की सरकारी नौटंकी, मगर अपना हक़ माँगने पर सुनवाई तक नहीं

– गीतिका

दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) के नर्सिंग स्टाफ़ के लोग लम्बे समय से अपनी माँगों को अनसुना किये जाने से नाराज़ थे और बार-बार की उपेक्षा से तंग आकर बीते 14 दिसम्बर को एम्स में कार्यरत 5000 नर्सिंग स्टॉफ ने अनिश्चितकालीन हड़ताल की घोषणा कर दी थी। उनकी मुख्य मांगें थीं छठे केंद्रीय वेतन आयोग की अनुशंसाओं को लागू करना और कॉन्ट्रैक्ट आधारित भर्ती ख़त्म करना। एम्स के कर्मचारियों का कहना है कि सरकार द्वारा लागू की जा रही नीतियाँ घोर मज़दूर विरोधी हैं। इससे मरीजों के इलाज़ से भी खिलवाड़ होगा। संविदा पर भर्ती करके सरकार और अस्पताल प्रशासन कर्मचारियों की मूलभूत सुविधाओं को ख़त्म कर रहा है। कोविड महामारी के दौरान अपनी जान जोखिम में डाल कर काम कर रहे मेडिकल स्टॉफ और डॉक्टर्स के लिये सरकार ने जुमलेबाजी के अलावा और कुछ नहीं किया। ताली-थाली और फूल बरसाने की नौटंकी की असलियत इसी से पता चल जाती है कि जब चिकित्सक, कर्मचारी अपनी जायज़ माँगों को लेकर सड़कों पर उतरते हैं तो उन्हें लाठी-डण्डे और खोखले वायदों के अलावा और कुछ नहीं मिलता। कहीं डॉक्टरों को महीनों तक वेतन नहीं मिलता तो कहीं नर्सों की रोज़गार सुरक्षा ही ख़तरे में डाल दी जाती है। केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए सातवें वेतन आयोग की सिफ़ारिशें लागू हो चुकी हैं, लेकिन एम्स की नर्सों को अभी छठे वेतन आयोग की सिफ़ारिशों की ही माँग उठानी पड़ रही है।

सत्ता में आने के बाद से मोदी सरकार ने हर सेक्टर में निजीकरण को तेज़ रफ़्तार से लागू किया है। देशभर में छात्र-चिकित्सक-कर्मचारी इसके विरोध में आवाज़ बुलंद कर रहे हैं। एम्स के स्टाफ़ व अन्य अस्पतालों के चिकित्सक-कर्मचारी भी सरकार की नीतियों का लगातार विरोध कर रहे हैं। 13 नवंबर को नर्सों की यूनियन ने निदेशक को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होनें तीन मांगे रखी थी और साथ ही साथ ये चेतावनी भी दी थी कि अगर उनकी मांगे न मानी गयी तो वे हड़ताल करेंगे। 1 महीने तक प्रशासन ने कोई सुध-बुध नहीं ली तो लगभग 5000 नर्स 14 दिसम्बर से अनिश्चित कालीन हड़ताल पर चले गये । उनकी मुख्य मांगे थी-

1. उनको लिखित आय रू० 18,640 मिले। अभी उन्हे 17,140 रू० दिये जाते है। वेतन के संबंध में उन्हें छठे वेतन आयोग की अनुसंशा के अनुरूप वेतन मिले|

2. अनुबंध पर भर्ती खत्म की जाये|

3. लिंग के आधार पर स्त्रियों को मिलने वाला 80% आरक्षण खत्म किया जाये ताकि पुरूषों को बेरोजगारी का सामना न करना पड़े|

4. नर्सों के लिए आवास की व्यवस्था हो|

5. न्यू पेंशन स्कीम लागू हो|

6. काडर रिस्ट्रक्चरिंग हो|

7. 20 साल पुराने प्रोफेसर कुसुम वर्मा कमेटी की सिफ़ारिशों को लागू किया जाये|

8. एम्स में नर्सों की कमी को दूर किया जाये। सभी एम्स में नर्सों के आपसी ट्रान्सफर की व्यवस्था हो|

9. नर्सिंग प्रशासन मजबूत हो इसमें अस्पताल प्रशासन का दखल न हो|

10. नर्सों के लिए कैंटीन, जिमखाना और मनोरंजन की सुविधा की व्यवस्था की जाये|

11. उन्हें भी केन्द्रीय कर्मचारियों की तरह तदर्थ बोनस मिले|

प्रशासन का रुख इस हड़ताल के प्रति बहुत निंदनीय रहा। निदेशक गुलेरिया ने एक तरफ कहा कि यूनियन की 23 में से अधिकांश मांगे मान ली गयी हैं और दूसरी तरफ गुपचुप तरीके से कांट्रैक्ट पर अयोग्य और अनुभवहीन 170 नर्सों की भर्ती करली साथ ही हड़तालियों को डराया धमकाया भी गया। हाई कोर्ट ने नर्सों की हड़ताल पर यह कह कर रोक लगा दी कि यह ग़ैर क़ानूनी है|

एम्स प्रशासन कि तरफ से कोर्ट में यह कहा गया कि नर्सों कि मांगों पर विचार किया जा रहा है। उसके बाद दिल्ली के एम्स में नर्सिंग यूनियन ने अस्पताल प्रशासन के साथ करीब दो घंटे तक चली बैठक के बाद मंगलवार रात यानि 16 दिसम्बर को अपनी हड़ताल खत्म कर दी। अगली सुनवाई 18 जनवरी को होगी। बैठक के दौरान यूनियन को आश्वासन दिया गया कि उनके सभी 'स्थानीय मुद्दों' को तत्काल हल किया जाएगा जबकि मंत्रालय से संबन्धित मामलों को जल्द से जल्द अलग से निपटाया जाएगा|

नर्स का पेशा मानवीय तो है ही पर किसी भी स्वास्थ्य कार्य में ऐसा अवलंब है जिसके बिना अस्पतालों में भर्ती मरीज़ो का इलाज किया ही नहीं जा सकता। एक डॉक्टर दवा और इलाज कि विधि लिखता है लेकिन उसको अमल में एक नर्स लाती है। यह चिकित्सा अगर मरीज को न दी जाए तो क्या वह ठीक हो पायेगा? नर्सों को अपनी ताकत को समझना होगा। डॉक्टर के बिना अस्पतालों का काम-चलाऊ काम तो चल भी सकता है लेकिन नर्सों के बिना अस्पताल ठप हो जाएंगे। अगर उन्होने अपनी हड़ताल जारी रखी होती तो प्रशासन उनकी मांगे मानने को मजबूर हो जाता। सिर्फ़ आश्वाशन पर उनका पीछे हटना अफसोस जनक रहा।

इसके बजाय उन्हें आगे लड़ना चाहिए था और अपनी ताकत को बढ़ाने के लिए ये कदम उठाने चाहिए थे-

1. दिल्ली के एम्स से शुरू हुई इस हड़ताल में अन्य राज्यों के एम्स को भी जोड़ना चाहिए था

2. सिर्फ़ एम्स ही नहीं अन्य सरकारी – ग़ैरसरकारी अस्पतालों की नर्सों को साथ लेना चाहिए था

3. अन्य विभागों की यूनियनों से अपने लिए सहयोग व समर्थन की अपील जारी की जानी चाहिए थी

विस्ट्रॉन आईफ़ोन प्लाण्ट हिंसा

अमानवीय हालात के ख़िलाफ़ मज़दूरों का विद्रोह!

– अखिल कुमार

देश के औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूरों को मुनाफ़े की चक्की में जिस क़दर पेरा जाता है, उनके सभी गिले-शिकवों को कम्पनी प्रबन्धन से लेकर सरकारी प्रशासन तक जिस तरह से अनसुना करता है, ऐसी स्थिति में अगर लम्बे समय से इकट्ठा हो रहा उनका ग़ुस्सा लावा बनकर हिंसक विद्रोह में फूट पड़ता रहा है, तो इसमें हैरानी कैसी! पिछले 15-20 सालों में ऐसी कितनी ही घटनाएँ घट चुकी हैं जब मज़दूरों का ग़ुस्सा हिंसक विद्रोह में तब्दील हो गया, चाहे वह 2005 की होण्डा गुडगाँव प्लाण्ट की घटना हो, 2008 में ग्रेटर नोएडा में ग्राज़ियानो की घटना हो, मारुति-सुज़ुकी मानेसर प्लाण्ट की 2012 की घटना हो, 2013 की नोएडा की दो दिवसीय प्रतीकात्मक हड़ताल के समय की घटना हो या ऐसी अन्य ढेरों घटनाएँ हों। ऐपल कम्पनी के आईफ़ोन असेम्बल करने वाली कम्पनी विस्ट्रॉन इन्फ़ोकॉम के कोलार प्लाण्ट में पिछले महीने हुआ हिंसक विद्रोह भी इन्हीं घटनाओं की अगली कड़ी है।

12 दिसम्बर को विस्ट्रॉन इन्फ़ोकॉम के नारासापुरा इण्डस्ट्रियल एरिया, कोलार (कर्नाटक) स्थित प्लाण्ट में ठेका मज़दूरों के ग़ुस्से ने हिंसक रुख़ अख़्तियार कर लिया। हुआ यूँ कि 12 दिसम्बर को रात की शिफ़्ट के 500 के क़रीब मज़दूर अपनी लिखित शिकायत लेकर कम्पनी के मानव संसाधन विभाग में गये। इस लिखित शिकायत में उनकी लम्बे समय से ज्यों की त्यों बनी हुई तमाम दिक़्क़तें शामिल थीं, जैसे तय वेतन से कम वेतन मिलना, कभी भी समय पर वेतन न मिलना, ओवरटाइम के बदले में अतिरिक्त वेतन न मिलना, 12-12 घण्टे की शिफ़्ट और हाज़िरी में धाँधली आदि। बजाय इसके कि कम्पनी प्रबन्धन इत्मीनान से उनकी शिकायत सुनता और उनकी लम्बे समय से बनी हुई परेशानियाँ हल करता, हुआ वही जो हमेशा होता आया था। कम्पनी प्रबन्धन ने फिर से सभी दिक़्क़तों का ठीकरा ठेका कम्पनियों के सिर फोड़ने की कोशिश की और मज़दूरों को ठेका कम्पनियों के पास जाने को कहा और उन्हें कमरे से बाहर निकालकर दरवाज़ा बन्द कर लिया। रात भर की कोशिशों के बाद लम्बे समय से परेशानहाल मज़दूरों का ग़ुस्सा बेक़ाबू हो गया और सुबह 6 बजे उन्होंने कम्पनी में तोड़-फोड़ कर अपना गुस्सा प्रकट करना शुरू कर दिया।

महीनों से कम्पनी में हो रहे अन्याय पर कान में तेल डालकर सोसा हुआ प्रशासन इस घटना का पता चलते ही फ़ौरन जागकर चाक-चौबन्द हो गया। पूरा सरकारी लाव-लश्कर विद्रोही मज़दूरों का दमन करने में जुट गया। लगभग 150 मज़दूरों को हिरासत में ले लिया गया और 3000 अज्ञात मज़दूरों के ख़िलाफ़ एफ़.आई.आर दर्ज करा दी गयी। कर्नाटक के मुख्यमंत्री से लेकर अन्य बड़े अधिकारियों की ओर से विस्ट्रॉन कम्पनी के पक्ष में आश्वासन आने शुरू हो गये, जिनका कुल निचोड़ यही था कि पूँजीपति फ़िक्र न करें, मज़दूरों को ऐसा सबक़ सिखाया जायेगा कि उनकी आने वाली पुश्तें भी कभी ऐसा करने के बारे में नहीं सोचेंगी! अख़बारों और ख़बरिया चैनलों ने घटना को बढ़ा-चढ़ाकर और ढेरों झूठ जोड़ते हुए मज़दूरों को गुण्डे-बदमाश-बलवाईयों के रूप में पेश करना शुरू कर दिया। पूरे **पूँजीवादी मीडिया में यह रोना-धोना शुरू हो गया कि इस घटना से विदेशी पूँजीपति भारत में निवेश करने से डरेंगे और मेक इन इण्डिया पर बुरा असर पड़ेगा। इस तरह की ख़बरें उछाली गयीं कि मज़दूरों ने हज़ारों आईफ़ोन चोरी कर लिये। जब इस सब दुष्प्रचार से भी बात नहीं बनी तो महिला मज़दूरों के साथ यौन हिंसा तक का फ़र्ज़ी इल्ज़ाम मज़दूरों पर लगा दिया गया। लेकिन, किसी ने भी यह जानने की कोशिश तक नहीं की कि आख़िर मज़दूरों के इस ग़ुस्से के पीछे के हालात क्या थे; आख़िर क्यों वे कम्पनी में तोड़-फोड़ करने को मजबूर हुए।** आइए उन हालातों के बारे में जान लेते हैं।

विस्ट्रॉन इन्फ़ोकॉम मूल रूप से एक ताइवानी कम्पनी है। इसके कोलार स्थित प्लाण्ट में ऐपल कम्पनी के महँगे आईफ़ोन असेम्बल करने का काम होता है। **विस्ट्रॉन के इस प्लाण्ट में लगभग 10,000 मज़दूर काम करते हैं, जिनमें से केवल 1343 ही स्थायी मज़दूर हैं, बाक़ी सब ठेका मज़दूर हैं।** इन ठेका मज़दूरों को कम्पनी सीधा काम पर ना रखकर ठेका कम्पनियों के ज़रिये काम पर रखती है, जिससे कम्पनी इन मज़दूरों के प्रति अपनी जवाबदेही से पल्ला झाड़ लेती है। मज़दूरों को जब भी कोई दिक़्क़त पेश आती है तो न तो ठेका कम्पनी उनकी सुनवाई करती है, न ही विस्ट्रॉन। यह पूँजीवाद के मौजूदा नव-उदारवादी दौर में आम चलन है, फिर चाहे वह कोई भी सेक्टर क्यों न हो।

विस्ट्रॉन के उक्त प्लाण्ट में लम्बे समय से अक्सर ऐसा हो रहा था कि मज़दूरों को तय वेतन से कम वेतन दिया जाता था। इसके अलावा उन्हें समय पर वेतन ना मिलना भी एक आम समस्या थी। यहाँ तक कि कुछ मज़दूरों के मुताबिक़ उन्हें कई बार 2-2 महीने तक वेतन नहीं मिला। मज़दूरों से प्रति दिन 100 रुपये अतिरिक्त देने के नाम पर ओवरटाइम करवा लिया जाता था लेकिन जब भी वेतन उनके खाते में जमा होता तो पता चलता कि ओवरटाइम का पैसा तो क्या मिलना था, उनका बेसिक वेतन भी उन्हें नहीं मिला। हाज़िरी में धाँधली इस क़दर थी कि जो मज़दूर छुट्टी वाले दिन भी काम पर आते थे, उन तक की हाज़िरी कम दिखायी जाती थी, जिसके नतीजे के तौर पर उनका वेतन काट लिया जाता था। मज़दूरों से बिना ओवरटाइम वेतन के 12-12 घण्टों की शिफ़्टों में हाडतोड़ काम करवाया जाता था। ऊपर से मज़दूरों की कभी कोई सुनवाई नहीं होती थी। कई महीनों से मज़दूर कभी ठेका कम्पनी के प्रबन्धन, तो कभी विस्ट्रॉन के प्रबन्धन के पास चक्कर लगा रहे थे, लेकिन दोनों ही समस्या का ठीकरा एक-दूसरे के सिर फोड़ उन्हें टरकाने में लगे हुए थे। यहाँ तक कि मज़दूर कई बार प्रशासन के पास भी अपनी शिकायत लेकर गये, लेकिन जैसा कि आम तौर पर होता है, उन्हें वहाँ से भी निराशा ही हाथ लगी। अक्टूबर में ही मज़दूर कोलार ज़िले की डीसी से भी मिले, लेकिन ज़बानी आश्वासन के अलावा उन्हें कुछ नहीं मिला। कोरोना काल में भी समय पर और पूरा वेतन न मिलने से मज़दूरों की ज़िन्दगी की मुश्किलें बढ़ती जा रही थीं। इस पूरे घटनाक्रम से आसानी से समझा जा सकता है कि 12 दिसम्बर को कम्पनी प्रबन्धन से मिलते वक़्त मज़दूरों की मनोदशा क्या रही होगी। घटना के बाद पुलिस प्रशासन कम्पनी मालिकान की सेवा जारी रखते हुए यह दावा कर रहा था कि 12 दिसम्बर की हिंसा मज़दूरों की सोची-समझी साज़िश थी, लेकिन सच्चाई यह है कि कम्पनी प्रबन्धन से मिलने के बाद मज़दूरों की उसी दिन 11 बजे डीसी दफ़्तर पर प्रदर्शन करने की योजना थी। लेकिन, कम्पनी प्रबन्धन के उस दिन के संवेदनहीन रवैये ने मज़दूरों के ग़ुस्से की बारूद में चिंगारी का काम किया।

घटना के बाद विस्ट्रॉन लगातार मज़दूरों की समस्याओं की पर्दापोशी में लगी हुई है। कभी यह दावा किया जा रहा है कि ठेका कम्पनियों को समय पर पूरा भुगतान कर दिया जाता था तो कभी यह मज़ाक़िया दावा किया जा रहा है कि हाज़िरी में गड़बड़ी इसलिए हो रही थी क्योंकि हाज़िरी लगाने के लिए जिस उपकरण का इस्तेमाल किया जा रहा था, उसके सॉफ़्टवेयर में दिक़्क़तें थीं।

इसके अलावा, विस्ट्रॉन ने अपनी पुलिस शिकायत में 12 दिसम्बर की घटना के कारण 437 करोड़ रुपये के नुक़सान का झूठा दावा किया था, जिसकी पोल जल्द ही खुल गयी। एक ओर जहाँ घटना स्थल पर पहुँची बीमा कम्पनी ने विस्ट्रॉन के इस दावे को ग़लत ठहराया, वहीं दूसरी ओर विस्ट्रॉन ने ख़ुद भी अपनी साख़ बचाने के लिए बाद में नुक़सान की राशि को घटाकर 52 करोड़ रुपये तक कर दिया। दरअसल, जहाँ शुरू में कम्पनी इस घटना को बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रही थी, बाद में इस डर से इस पर पर्दा डालने लगी कि कहीं ऐपल कम्पनी उसका सप्लायर लाइसेंस रद्द न कर दे। इसी डर से बाद में विस्ट्रॉन ने कुछ हद तक अपनी ग़लती मानते हुए कम्पनी की भारतीय शाखा के उपाध्यक्ष को बर्ख़ास्त करने की खानापूर्ति भी कर दी।

असल में, अन्य बड़ी कम्पनियों की तरह ही ऐपल के उत्पाद भी उसके अपने कारख़ानों में नहीं बनते, बल्कि उसके उत्पादों के अलग-अलग भागों को बनाने से लेकर उन्हें आईफ़ोन, आईपैड या अन्य किसी उत्पाद के तौर पर असेम्बल करने का काम उसके सप्लायर करते हैं। **ऐपल के इन सप्लायरों में सबसे बड़े हैं: फ़ॉक्सकॉन, पेगाट्रॉन और विस्ट्रॉन। ये सभी मज़दूरों के बर्बर शोषण के लिए कुख्यात हैं।** 2010 व 2012 में चीन में फ़ॉक्सकॉन के कई मज़दूरों ने वहाँ के हालातों से तंग आकर ख़ुदकुशी तक कर ली थी। इसी तरह, पिछले वर्ष नवम्बर में ही ऐपल ने पेगाट्रॉन का सप्लायर लाइसेंस रद्द कर दिया था। कारण यह था कि पेगाट्रॉन कम्पनी छात्रों से ट्रेनिंग के नाम पर बिना वेतन दिये दिन-रात काम करवा रही थी। इस बार भी अपनी छीछालेदर होने पर

ऐपल ने विस्ट्रॉन को आज़माइश अवधि (*प्रोबेशन पीरियड*) पर डाल दिया है और उसे दिये जाने वाले सभी नये ऑर्डर रद्द कर दिये हैं। ऐसी हर घटना के बाद ऐपल अपने *सप्लायर कोड ऑफ़ कण्डक्ट* के उल्लंघन का हवाला देकर सप्लायर का लाइसेंस रद्द कर अपना पल्ला झाड़ लेती है। लेकिन सवाल यह है कि आख़िर ऐपल या इसी तरह की अन्य दैत्यकार कम्पनियाँ स्थायी मज़दूर रखकर काम करवाने के बजाय अपना काम ठेके पर क्यों करवाती हैं? इसकी वजह सभी जानते हैं कि ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि कम से कम लागत पर अपने उत्पाद तैयार करवाकर ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा हासिल किया जा सके। अपने कारख़ानों में स्थायी मज़दूर रखने पर इन कम्पनियों की उनके प्रति सीधी जवाबदेही होगी। मज़दूरों को न्यूनतम वेतन, पी.एफ़., बोनस, ओवरटाइम आदि न मिलने पर सीधा इन्हीं कम्पनियों पर सवाल खड़ा होगा, जिससे इनके कारोबार पर भी असर पड़ेगा। लेकिन, सप्लायरों के मार्फ़त काम करवाने पर भले ही मज़दूरों को कितना ही क्यों न निचोड़ा जा रहा हो, श्रम क़ानूनों की धज्जियाँ क्यों न उड़ायी जा रही हों, इन कम्पनियों को मज़दूरों के ग़ुस्से का सेंक लगने की सम्भावना कम रहेगी। और, सेंक लगेगा भी तो सारा ठीकरा सप्लायर के सिर फोड़कर उनका लाइसेंस रद्द कर किसी अन्य सप्लायर के मार्फ़त यही काम बदस्तूर जारी रहेगा।

विस्ट्रॉन की घटना या इसी तरह की अन्य घटनाओं के पीछे एक और प्रमुख कारण है मज़दूरों का असंगठित होना। विस्ट्रॉन में कोई यूनियन ही नहीं है जो मज़दूरों के आक्रोश को सही दिशा देकर उनकी माँगों को लेकर एक जुझारू संघर्ष छेड़ सके। ऐसे में यह ताज्जुब की बात नहीं है कि उनका ग़ुस्सा एक अराजक विद्रोह के रूप में फूटा। आज मज़दूरों को एक क्रान्तिकारी मज़दूर यूनियन की सख़्त ज़रूरत है। मज़दूरों की अपनी क्रान्तिकारी यूनियन ही उन्हें जुझारू संघर्ष के लिए तैयार कर सकती है और अन्य फ़ैक्टरियों के मज़दूरों को भी संघर्ष में शामिल करके फ़ैक्टरी स्तर के संघर्ष को सेक्टर स्तर और इलाक़ा स्तर के संघर्ष में तब्दील कर सकती है। ऐसे जुझारू संघर्षों के दौरान ही मज़दूर वर्ग को यह समझ विकसित होगी कि जब तक पूँजीवाद रहेगा वे आबाद और ख़ुशहाल नहीं हो सकते और तभी वे पूँजीवाद का विकल्प खड़ा करने के बारे में सोचेंगे।

"जब अटलांटिस में पानी भर रहा था, उस समय भी धनी लोग अपने ग़ुलामों को बुलाने के लिए चीख़ रहे थे।"
– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

(ब्रेष्ट का यह उद्धरण आज की दुनिया के लिए बेहद प्रासंगिक है जब मेहनतकशों की हड्डियाँ निचोड़ने के साथ ही कच्चे माल के अन्धाधुन्ध दोहन और अराजक-अनियोजित पूँजीवादी विकास ने पृथ्वी की पारिस्थितिकी को इस क़दर तबाह कर दिया है कि इस बात का ख़तरा पैदा हो गया है कि यदि पूँजीवाद बना रहा तो इस सदी का अन्त होने से पहले ही इस पृथ्वी से मानव जीवन का ही ख़ात्मा हो जायेगा। लेकिन मुनाफ़े की अन्धी होड़ में लगे पूँजीपति पृथ्वी के विनाश के बारे में नहीं, मज़दूरों को लूटने और कुचलने की नयी-नयी तरक़ीबों के बारे में सोचने में दिन-रात एक किये हुए हैं! अटलांटिस डूब रहा है, पर वे अपने ग़ुलामों को लेकर परेशान हैं!)

– कविता कृष्णपल्लवी

मोदी सरकार की अय्याशी और भ्रष्टाचार का नया कीर्तिमान : सेंट्रल विस्टा प्रोजेक्ट

करोड़ों बेघरों के देश में नयी संसद बनाने पर 20 हज़ार करोड़ रुपये फूँकने की तैयारी

– अनुपम

कोरोना महामारी के इस दौर में जब लोगों की बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं हो पा रहीं हैं, स्वास्थ्य सेवाएँ लचर हैं, करोड़ों लोग रोज़गार खो चुके हैं और भारी आबादी दो वक़्त की रोटी के लिए मुहताज है, वहीं ख़ुद को देश का प्रधानसेवक कहने वाले प्रधानमंत्री ने 20 हजार करोड़ रूपये का एक ऐसा प्रोजेक्ट लाँच किया है जिससे जनता को कुछ नहीं मिलने वाला।

सेण्ट्रल विस्टा नाम के इस प्रोजेक्ट को चार साल में यानी कि 2024 तक पूरा करने का लक्ष्य रखा गया है लेकिन इसके तहत नये संसद भवन के लिए दो सालों के अन्दर ही बनाया जाना है। मोदी सरकार ने 2022 के 75वें स्वतंत्रता दिवस को इसके उद्घाटन का शिगूफ़ा उछालते हुए अभी हाल ही में 10 दिसम्बर को नयी संसद भवन का भूमिपूजन भी कर डाला। संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता की खुल्लमखुल्ला धज्जियाँ उड़ाने का यह कारनामा भी पूरे विधि-विधान से, जनता के पैसे को पानी की तरह बहाकर किया गया।

जैसी कि उम्मीद थी, सरकार के पालतू सुप्रीम कोर्ट ने भी कुछ ना-नुकुर करते हुए देश के संसाधनों की भयंकर लूट और बर्बादी करने वाले इस शर्मनाक प्रोजेक्ट को हरी झण्डी दिखा दी है। दरअसल इस मामले को पहले अदालत में ले जाने और फिर उस पर अदालत की मुहर लगवाने का यह सारा नाटक किया ही इसलिए गया था ताकि लोगों के बीच ढिंढोरा पीटा जा सके कि देखो, सबसे बड़ी अदालत ने भी इसे सही ठहराया है।

सोचने वाली बात यह है कि जिस देश में करीब 20 करोड़ लोग फ़ुटपाथों पर सोते हों और लगभग इतने ही लोग झुग्गियों में रहते हों, वहाँ 971 करोड़ की नयी संसद बनाना क्या एक घटिया मज़ाक नहीं है? क्या ऐसे लोकतंत्र को जोंकतन्त्र न कहा जाए, जहाँ पर जनता के ख़ून-पसीने की गाढ़ी कमाई से चूसे गये 25 हजार करोड़ रुपये जनता की छाती पर मूँग दल रहे नेताओं-मंत्रियों और अफ़सरों के नये कार्यालय खड़े करने पर उड़ा दिये जायेंगे। इस पर कोई सवाल न उठे, इसलिए गोदी मीडिया के ज़रिए माहौल बनाना शुरू कर दिया गया है कि नयी संसद का बनना कितना ज़रूरी है। उसके बनने से पहले ही उसके रंग-रूप-आकृति की व्याख्या करने में एक पैर पर खड़ी इस मीडिया के तेवर देखकर आपकी आँखें फटी की फटी रह जाती हैं।

पहले ही इस ख़र्चीले जनतंत्र के बोझ से इस देश की ग़रीब जनता कराह रही है। करोड़ों बेघरों के इस देश का राष्ट्रपति 340 कमरों के भव्य महल – राष्ट्रपति भवन में रहता है, जो दुनिया के सभी राष्ट्राध्यक्षों के आवासों (व्हाइट हाउस और बकिंघम पैलेस से भी) से बड़ा है। 2007 में इसके रख-रखाव की लागत सालाना 100 करोड़ रुपये आँकी गयी थी जो आज लगभग दोगुना हो चुकी होगी। राष्ट्रपति के स्टाफ़, घरेलू ख़र्चों और भत्तों पर करीब 75 करोड़ रुपये सालाना ख़र्च होते हैं। प्रधानमंत्री, मंत्रिमण्डल और सांसदों पर हर साल

अरबों रुपये ख़र्च होते हैं। महामारी के दौर में ही मोदी सरकार ने 8000 करोड़ रुपये राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के लिए दो नये आलीशान हवाई जहाज़ ख़रीदने पर उड़ा दिये।

इस दैत्याकार और बेहद ख़र्चीले नेताशाही और नौकरशाही के तंत्र का 90 फ़ीसदी से भी अधिक बोझ वह ग़रीब जनता उठाती है जिसे जीने की बुनियादी ज़रूरतें तक नसीब नहीं होतीं। टैक्सों से होने वाली कुल सरकारी आय का 90 प्रतिशत से भी अधिक हिस्सा आम लोग परोक्ष करों के रूप में देते हैं। 10 प्रतिशत से भी कम हिस्सा पूँजीपतियों और सम्पत्तिशाली वर्गों का होता है।

हमारे देश के मंत्रियों-नौकरशाहों के ठाट-बाट बड़े-बड़े बादशाहों को भी मात देने वाले हैं। लॉकडाउन के वक़्त भी जब सांसदों को अपनी सांसद निधि का इस्तेमाल लोगों तक अनाज वगैरह पहुँचाने में करना चाहिए था, उस वक़्त भी वे अय्याशियाँ करते रहे और जनता के दुख-दर्द की खिल्ली उड़ाते रहे। कोरोना संकट के इस दौर में इस ख़र्चीले प्रोजेक्ट का बोझ भी वह जनता उठायेगी, जिसके पास न तो रोज़गार की गारण्टी है, न घर की गारण्टी है और न ही स्वास्थ्य या शिक्षा की कोई गारण्टी है।

मोदी राज में लोगों को नफ़रत और झूठ के ज़हर की ख़ुराकें इस क़दर पिलायी गयी हैं कि उनका बड़ा हिस्सा अब किसी भी प्रचार को सही मान लेता है। जैसे, गोदी मीडिया बता रहा है कि संसद भवन पुराना हो गया है इसलिए नयी संसद की ज़रूरत है। वैसे तो जनता के लिए यह संसद भी सुअरबाड़ा ही है जहाँ बैठकर सिर्फ़ हवाई गोले दागे जाते हैं और जनता को लूटने-खसोटने के लिए नये-नये क़ानून बनाये जाते हैं। मगर जनता की कमाई उड़ाने के लिए किस तरह झूठ बोला जा रहा है, इसे समझने के लिए बस इतना ही जान लेना चाहिए कि यह संसद भवन केवल 94 साल ही पुराना है और काफ़ी मज़बूत है। इंग्लैण्ड और अमेरिका के संसद भवन इससे कहीं ज़्यादा पुराने हैं। इंग्लैण्ड का संसद भवन लगभग डेढ़ सौ साल पुराना है और अमेरिका के संसद भवन को बने हुए दो सौ साल हो चुके हैं।

एक तीर से कई निशाने लगाने वाला यह प्रोजेक्ट वास्तव में सेण्ट्रल भ्रष्टाचार प्रोजेक्ट है। सरकार के चहेते बिल्डरों और कम्पनियों को हज़ारों करोड़ के ठेके मिलेंगे और मंत्रियों-अफ़सरों की भी पाँचों उँगलियाँ घी में होंगी।

इस प्रोजेक्ट का निर्माण पूरा होने के बाद संसद भवन और राष्ट्रपति भवन के आसपास की खाली जगह भी ख़त्म हो जायेगी और जनता के लिए संसद भवन के पास जाकर विरोध-प्रदर्शन करना लगभग नामुमकिन हो जायेगा।

भूख और कुपोषण के साये में जीता हिन्दुस्तान

– अविनाश

हर गुजरते दिन के साथ मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था बेनकाब होती जा रही है। भूख-कुपोषण, मँहगाई, बेरोज़गारी आदि से परेशानहाल जनता को 'अच्छे दिन आएंगे' का सपना बेचकर सत्ता में पहुंची फ़ासीवादी मोदी सरकार की हर नीति आम जनता पर कहर बनकर टूट रही है। कोरोना महामारी में मोदी सरकार का कुप्रबंधन हज़ारों मेहनतकशों की ज़िन्दगी पर भारी पड़ा और समय गुजरने के साथ हर नया आंकड़ा मेहनतकशों के बर्बादी का हाल बयान कर रहा है।

दुनिया के "सबसे बड़े लोकतंत्र" का डंका भुखमरी और कुपोषण के मामले में भी दुनियाभर में बज रहा है। हाल ही में आयी वर्ल्ड हंगर इंडेक्स-2020 और नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे-5 की पहले चरण कि रिपोर्ट के इस बात का प्रमाण है कि भारत का मेहनतकश आज़ादी के 73 साल बाद भी भूख और कुपोषण के साये में जीने को मजबूर है। वर्ल्ड हंगर इंडेक्स-2020 की रिपोर्ट के मुताबिक बात-बात पर पाकिस्तान-पाकिस्तान चिल्लाने वाली भाजपा के राज में भुखमरी के मामले में पाकिस्तान की तुलनात्मक स्थिति भी भारत से अच्छी है। इस रिपोर्ट के अनुसार पकिस्तान के अलावा म्यांमार, बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका भारत से बेहतर स्थिति में हैं। 2020 के विश्व भूख सूचकांक में शामिल कुल 107 देशों की सूची में भारत (94वें पायदान पर) की स्थिति अफ्रीका के कुछ बेहद गरीब देशों से ही बेहतर है।

13 दिसम्बर 2020 को जारी पाँचवे नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे (एनएफएचएस -5) के पहले चरण की रिपोर्ट (जिसमें 17 राज्य और 5 केन्द्रशासित प्रदेश शामिल हैं) मोदी सरकार के विकास के तमाम दावों के ढोल की पोल खोल रही है। रिपोर्ट में सामने आए तथ्यों पर आने से पहले मोदी सरकार की इस कारगुजारी पर ध्यान देना जरूरी है कि बेरोज़गारी के आंकड़े की तरह ही मोदी सरकार एनएफएचएस -5 के आंकड़ों को भी जनता के बीच जाने से रोकने की कोशिश में लगी है। 12 राज्यों और 2 केन्द्र शासित प्रदेशों में होने वाले दूसरे चरण के सर्वे में जानबूझकर देरी की जा रही है।

एनएफएचएस -5 रिपोर्ट के पहले चरण के आंकड़े दिखाते है कि पाँच वर्ष तक के बच्चों में कुपोषण से सम्बंधित चार मानक कम ऊँचाई, पोषक तत्वों की कमी, कम वजन और शिशु मृत्यु दर के मामले में कुछ राज्यों को छोड़ दे तो अन्य की स्थिति पहले से भी भयानक हुई है। रिपोर्ट के मुताबिक 6 महीने से 2 साल के बच्चों में से औसतन 15 फीसदी से भी कम बच्चों को संतुलित और पर्याप्त आहार मिल पा रहा है। मतलब देश के लगभग 85 प्रतिशत नवजात भूख की मार झेल रहे हैं। इस भयानक स्थिति का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस मामले में सबसे बेहतर प्रदर्शन करने वाला राज्य मेघालय है और वहाँ भी हर तीन बच्चों में से केवल एक को ही संतुलित और पर्याप्त आहार मिल रहा है, और सबसे फिसड्डी राज्य गुजरात है जहां हर 17 में से केवल एक बच्चे की संतुलित और पर्याप्त आहार तक पहुँच है। इसका असर बच्चों के मानसिक तथा शारीरिक विकास पर पड़ रहा है। इसी रिपोर्ट के मुताबिक देश पाँच वर्ष से काम उम्र के औसतन 60 फीसदी से ज़्यादा बच्चे खून की कमी के शिकार हैं (लद्दाख में 92.5 फीसदी और गुजरात में 80 फीसदी बच्चे एनीमिया के शिकार हैं)। पैदा होने के 28 दिनों में ही औसतन 1000 में से 15 से ज़्यादा नवजातों की मौत हो जाती है (बिहार में 34.5 और गुजरात में 22) और 1000 में से लगभग 24 बच्चे 1 साल और 35 बच्चे 5 साल की उम्र से पहले ही काल के गाल मे समा जाते हैं। हर साल दुनिया में 1 साल से कम उम्र में होने वाली मौतों में से 15 प्रतिशत से ज़्यादा हिस्सा भारत के केवल चार राज्य उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, और राजस्थान से आता है। 15-49 वर्ष की आधी से ज़्यादा महिलाएं (लद्दाख की 92 फीसदी, पश्चिम बंगाल की 74.1 फीसदी, गुजरात की 65 फीसदी बिहार की 63.5 फीसदी) और देश का हर तीसरा पुरुष एनीमिया से ग्रसित है। वहीं ग्लोबल न्यूट्रिशन रिपोर्ट-2020 के मुताबिक भारत में 4.66 करोड़ बच्चे कुपोषित हैं और इस मामले में भारत दुनियाभर में अव्वल है। यूनिसेफ की रिपोर्ट 'द स्टेट ऑफ द वर्ल्ड्स चिल्ड्रेन 2019" के अनुसार भारत में पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों में 69 प्रतिशत मौतों का कारण कुपोषण है। असल में यह व्यवस्था द्वारा की जाने वाली हत्या है जिसपर कोई कभी आवाज नहीं उठती है। किसी भी लोकतंत्र के लिए गरीबी और भूख से मौत शर्म की बात है, लेकिन भारतीय हुक्मरानों की निर्लज्जता की हद यह है कि भुखमरी-कुपोषण के रोकथाम की जगह नयी संसद बनाने के 'सेन्ट्रल विस्टा प्रोजेक्ट' में बीस हज़ार करोड़ रुपये होम कर रहे हैं। यह संकट खाद्यान्न की कमी से पैदा नहीं हुआ है (अगर होता तो भी यह सवाल खड़ा होता कि जो सरकार कारपोरेट घरानों का 1.45 लाख का कर्ज माफ कर सकती है क्या वो लोगों के लिए खाद्यान की व्यवस्था नही कर सकती?)। देश में यह स्थिति तब बनी हुई हैं जब लॉकडाउन के चार महीनों में एफसीआई के गोदामों में लगभग 65 लाख टन अनाज़ सड़ गया। इससे स्पष्ट है कि देश में भूख और कुपोषण की समस्या से निपटने के लिये संसाधनों या सामर्थ्य की कमी नहीं है। दरअसल समस्या पूँजीवादी व्यवस्था की है जो अपनी स्वाभाविक गति से एक तरफ विलासिता का टापू बना रही है तो दूसरी तरफ आँसुओ का समंदर।

इस पूँजीवादी सड़ांध को देखने के बाद भगतसिंह की ये बात बरबस ही दिमाग मे आ जाती है कि- "अगर कोई सरकार जनता को उसके बुनियादी अधिकारों से वंचित रखती है तो जनता का यह अधिकार ही नहीं बल्कि आवश्यक कर्तव्य बन जाता है कि ऐसी सरकार को बदल दे या समाप्त कर दे।"

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

(पेज 1 से आगे)

लगान को पूँजीवादी भूस्वामी अपने मन-मुआफ़िक़ नहीं तय कर सकता है। फिर यह लगान किस प्रकार तय होता है? पूँजीवादी लगान तीन कारकों से तय होता है: पूरी अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर, अलग-अलग ज़मीन के प्लाटों की उत्पादकता और मुनाफ़े की दर और खेती का एक ऐसे संसाधन पर निर्भर करना, जो कि कुदरती संसाधन है और सीमित है: यानी ज़मीन। ज़मीन किसी ने बनायी नहीं है। यह कुदरती संसाधन है। लेकिन यह सीमित मात्रा में है और यह पूँजीवादी भूस्वामियों के एक वर्ग की सम्पत्ति है। जैसे-जैसे भोजन व खेती के उत्पादों की माँग बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे कम उपजाऊ ज़मीन पर भी खेती ज़रूरी होती जाती है। खेती के इन उत्पादों की माँग यह तय करती है कि सबसे ख़राब ज़मीन पर खेती करने वाले पूँजीवादी फ़ार्मर को भी औसत मुनाफ़े से अधिक मुनाफ़ा हो, वरना वह पूँजीवादी भूस्वामी से ज़मीन किराये पर लेकर खेती क्यों करेगा? अगर उसे औसत मुनाफ़ा ही मिल रहा है, और उसे उसमें से ज़मीन का किराया/लगान निकालकर पूँजीवादी भूस्वामी को देना है, तो वह अपनी पूँजी अर्थव्यवस्था में कहीं और लगायेगा, जहाँ उसे औसत मुनाफ़े की दर हासिल हो सके। इसलिए खेती में उत्पाद की क़ीमत सबसे ख़राब ज़मीन और सबसे ख़राब उत्पादन की स्थितियों से तय होती है और ख़राब से ख़राब ज़मीन को कुछ अतिरिक्त मुनाफ़ा तभी मिल सकता है, जबकि खेती में पैदा हो रहा समूचा मूल्य (यानी, वस्तुकृत श्रम या उत्पाद का रूप ले चुका श्रम) खेती के क्षेत्र में ही रहे, जो कि आम तौर पर अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में मिल रहे औसत मुनाफ़े से ऊँचा ही होता है क्योंकि दूसरे क्षेत्रों में खेती के मुक़ाबले मशीनें ज़्यादा होती हैं और प्रति मशीन मज़दूर कम होते हैं। नतीजतन, खेती में श्रम भी ज़्यादा सघन होता है और मूल्य भी ज़्यादा पैदा होता है। (क्योंकि मूल्य का स्रोत मज़दूर का श्रम ही होता है।)

लुब्बेलुबाब यह कि पूँजीवादी भूस्वामी भी अगर इतना लगान माँगता है कि पूँजीवादी फ़ार्मर के पास औसत मुनाफ़े जितना भी न बचे तो पूँजीवादी फ़ार्मर अपनी पूँजी को किसी और क्षेत्र में लगाना पसन्द करेगा; और अगर पूँजीवादी फ़ार्मर खेती में पूरी अर्थव्यवस्था के औसत मुनाफ़े के ऊपर मिल रहे 'अतिरिक्त मुनाफ़े' को लगान या किराये के रूप में पूँजीवादी भूस्वामी के हवाले नहीं करता, तो पूँजीवादी भूस्वामी अपनी ज़मीन किराये पर पूँजीवादी फ़ार्मर को देगा ही नहीं। खाद्यान्न व अन्य कृषि उत्पादों की बढ़ती माँग और ज़मीन की सीमित मात्रा यह सुनिश्चित करती है कि पूँजीवादी फ़ार्मर ज़मीन किराये पर ले, औसत मुनाफ़ा अपने पास रखे और 'अतिरिक्त मुनाफ़ा' लगान के रूप में पूँजीवादी भूस्वामी के हवाले करे। यानी कि पूँजीवादी भूस्वामी मनमाना लगान नहीं ले सकता है और यह लगान बाज़ार के लिए उत्पादन, औसत मुनाफ़े की दर, खेती में उत्पादकता आदि कारकों से तय होता है। जहाँ पर पूँजीवादी फ़ार्मर ही स्वयं ज़मीन का मालिक होता है, वहाँ यह 'अतिरिक्त मुनाफ़ा' लगान के रूप में किसी पूँजीवादी भूस्वामी के पास नहीं जाता है, बल्कि उसकी जेब में जाता है। बहरहाल, यह होता है पूँजीवादी लगान, जो कि सामन्ती लगान से भिन्न होता है। जब एक बार पूँजीवादी लगान खेती में पैदा हो जाता है, तो खेती में उत्पादन सम्बन्धों का चरित्र मूलत: और मुख्यत: पूँजीवादी बन जाता है और यह हमारे देश में कई दशकों पहले हो चुका है। जब पूँजीवाद का विकास हो जाता है, तो खेती में भी बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलती है, खेतिहर मज़दूरों का शोषण करती है, उनके द्वारा पैदा बेशी मूल्य को मुनाफ़े के लिए हड़पती है।

पूँजीवादी फ़ार्मर (धनी किसान) कौन होता है? पूँजीवादी फ़ार्मर वह होता है जो कि पूँजी का निवेश कर खेती के उपकरणों, मशीनों, कच्चे माल आदि को ख़रीदता है, मज़दूरों की श्रमशक्ति को ख़रीदता है और बाज़ार के लिए उत्पादन करवाता है। मज़दूरों द्वारा पैदा बेशी मूल्य को वह मुनाफ़े के रूप में अपनी जेब के हवाले करता है, उसके एक हिस्से का उपभोग करता है और मुनाफ़े और बाज़ार की स्थितियाँ अच्छी होने पर उसे खेती में ही वापस लगाता है, या अन्य किसी क्षेत्र में निवेश कर देता है। अगर उसने ज़मीन किसी पूँजीवादी भूस्वामी से किराये पर ली है, तो वह खेती में औसत मुनाफ़े के ऊपर मिलने वाले बेशी मुनाफ़े को पूँजीवादी भूस्वामी को लगान के रूप में देता है और अगर ज़मीन उसकी अपनी होती है, तो यह बेशी मुनाफ़ा भी उसकी जेब में जाता है। जिन्हें हम भारत में धनी किसान वर्ग और उच्च मध्यम किसान वर्ग कहते हैं, वह यही पूँजीवादी कुलक-फ़ार्मर है, जो कि पूँजी निवेश करता है, मशीनें व कच्चे माल ख़रीदता है, मज़दूरों को काम पर रखता है, और मुनाफ़ा कमाता है। यह आम तौर पर वे किसान हैं, जिनके पास 4 हेक्टेयर (लगभग 10 एकड़) या उससे अधिक ज़मीन है। हालाँकि देश के अलग-अलग राज्यों की स्थितियों में कुछ अन्तर भी है, लेकिन देश के पैमाने पर फ़िलहाल इस औसत से काम चलाया जा सकता है।

इसके बाद, ऐसे किसानों का वर्ग आता है जिनके पास इतनी पूँजी (और अक्सर इतनी ज़मीन भी) नहीं होती कि वे मज़दूरों को काम पर रखें, बड़े पैमाने पर यंत्र, उपकरण, उन्नत बीज, खाद और दूसरी ज़रूरी चीज़ें ख़रीदें। वे कभी-कभी ही दो-चार मज़दूर काम पर रखते हैं और आम तौर पर अपने और अपने पारिवारिक श्रम से खेती करते हैं। इनके पास, अपनी ज़रूरतों के बाद बहुत ज़्यादा उपज नहीं बचती और वह कुछ ही उपज सरकारी मण्डियों में बेच पाते हैं। अक्सर वे स्थानीय धनी किसानों, आढ़तियों, बिचौलियों को ही ये उपज कम दामों में बेच देते हैं क्योंकि उनके पास इस उपज को भण्डारित करने की सुविधा भी नहीं होती और वे भुगतान के लिए लम्बा इन्तज़ार नहीं कर सकते। चूँकि यह किसान दस में से नौ मामलों में धनी किसानों, कुलकों, सूदख़ोरों, आढ़तियों आदि (जो कि अक्सर एक ही व्यक्ति होता है) के क़र्ज़ तले दबा होता है और दर्जनों प्रकार के आर्थिक बन्धनों के ज़रिये उन पर निर्भर होता है। इसलिए कम दाम पर अपनी अतिरिक्त उपज इन धनी किसानों-कुलकों के हवाले करना इनकी मजबूरी होती है।

किसानों के इस हिस्से को हम निम्न-मँझोला किसान वर्ग कहते हैं। ये किसान अक्सर धनी किसानों-कुलकों के लिए ठेका खेती भी करते हैं। इस व्यवस्था में एमएसपी से नीचे तय किये गये दाम पर ये धनी किसानों-कुलकों के लिए धान या गेहूँ उगाते हैं और उन्हें बेचते हैं। कई बार ये ज़मीन भी इन्हीं धनी किसानों-कुलकों से किराये पर लेते हैं, दस में से नौ मामलों में खेती के लिए चालू पूँजी (जिसकी ज़रूरत किसान को खेती के लिए पड़ती ही रहती है) भी सूद पर इन निम्न-मँझोले किसानों को कुलकों-धनी किसानों से ही मिलती है और फिर अन्त में अपनी उपज को एमएसपी (और बाज़ार दर) से कम दाम पर ये इन्हीं धनी किसानों-कुलकों को बेचते हैं। यानी कि निम्न-मँझोले किसान को ये धनी किसान-कुलक पूँजीवादी भूस्वामी के रूप में लगान लेकर, सूदख़ोर के रूप में ब्याज लेकर, पूँजीवादी फ़ार्मर के रूप में मुनाफ़ा लेकर और साथ ही आढ़ती-बिचौलिये के रूप में कमीशन (व्यापारिक मुनाफ़ा) लेकर लूटते हैं। इन निम्न-मँझोले मालिक किसानों व काश्तकारों, दोनों के पास इतना भी नहीं बचता कि वे अपने घर का नियमित ख़र्च चला सकें। नतीजतन, इन्हीं के घरों से लोग प्रवासी मज़दूर बनकर दूसरे गाँवों में या शहरों में जाते हैं, ताकि घर की अर्थव्यवस्था चल सके। इन निम्न-मँझोले किसानों को पंजाब और हरियाणा में सरकारी मण्डियों तक काफ़ी हद तक पहुँच हासिल है, क्योंकि वहाँ सरकारी मण्डियों का नेटवर्क बाक़ी देश से कहीं बेहतर है। लेकिन इन निम्न-मँझोले किसानों को एमएसपी से कोई फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होता है क्योंकि उनके पास बेचने योग्य उपज की मात्रा बहुत बड़ी नहीं होती है और साल भर में वे जितना अनाज एमएसपी पर बेचते हैं, उससे ज़्यादा ख़रीदते हैं। मध्यप्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना व केरल में भी कुछ निम्न-मँझोले किसानों की एमएसपी तक पहुँच है, लेकिन पंजाब व हरियाणा के मुक़ाबले कम। और बाक़ी राज्यों में तो एमएसपी और सरकारी मण्डियों तक उनकी पहुँच नगण्य है। लेकिन जिन मामलों में उनकी एमएसपी व सरकारी मण्डियों तक पहुँच है भी, वहाँ भी एमएसपी का उन्हें नुक़सान ज़्यादा होता है, क्योंकि वे मुख्य रूप से खेती के उत्पादों के ख़रीदार हैं, विक्रेता नहीं।

इसके बाद उन किसानों का वर्ग आता है जिन्हें हम सीमान्त व छोटा किसान, या सीधे ग़रीब किसान व अर्द्धसर्वहारा कह सकते हैं। यह वह किसान है जो कभी उजरती श्रम का शोषण नहीं करता है, बल्कि अपने और अपने पारिवारिक श्रम से ही खेती करता है और उससे उसकी बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं होती हैं। ऐसे किसान देश की कुल किसान आबादी का 92 प्रतिशत हैं। उनके पास 2 हेक्टेयर से भी कम ज़मीन है और अपनी खेती ही नहीं बल्कि रोज़ाना की घरेलू ज़रूरतों के लिए भी ये क़र्ज़ लेने को मजबूर होते हैं। ये चाहें तो भी कभी एमएसपी का फ़ायदा नहीं उठा सकते हैं। इनकी पारिवारिक आय का केवल 15 प्रतिशत खेती से आता है। अब आप स्वयं ही समझ लें कि ये कितना उत्पाद कहीं भी बेच पाते हैं, सरकारी मण्डी तो दूर की बात है। इनकी गृहस्थी मूलत: मज़दूरी से चलती है क्योंकि इनकी पारिवारिक आय का 85 फ़ीसदी मज़दूरी से ही आता है। ये ग़रीब और सीमान्त किसान पूँजीवादी फ़ार्मरों व ज़मीन्दारों द्वारा ही शोषित होते हैं और गाँव में रहने वाला कोई भी व्यक्ति इस सच्चाई को जानता है, चाहे कोई इससे कितना भी मुँह क्यों न मोड़ना चाहे।

सबसे निचले संस्तर पर है खेतिहर मज़दूर वर्ग। गाँवों में अब खेतिहर मज़दूरों की संख्या कुल किसान आबादी (जिसमें सीमान्त, छोटे व निम्न-मँझोले किसान भी शामिल हैं) से ज़्यादा है। 2011 में ही भारत की खेती में लगी आबादी में से 14.5 करोड़ खेतिहर मज़दूर थे, जबकि किसानों की संख्या 11.8 करोड़ रह गयी थी। पिछले 10 वर्षों में यदि विकिसानीकरण (किसानों के मज़दूर बनने की प्रक्रिया) की दर वही रही हो, जो कि 2000 से 2010 के बीच रही थी, तो आप मानकर चल सकते हैं कि खेतिहर मज़दूरों की संख्या 15 करोड़ से ऊपर जा चुकी होगी, जबकि किसानों की संख्या 11 करोड़ से नीचे। इस खेतिहर मज़दूर आबादी का क़रीब आधा हिस्सा दलित आबादी से आता है। इनके शोषण को अतिशोषण में तब्दील करने में इनकी जातिगत स्थिति का भी एक योगदान है। पंजाब और हरियाणा वे प्रदेश हैं, जहाँ दलित आबादी कुल आबादी के 25 प्रतिशत से भी ज़्यादा है। यदि प्रवासी मज़दूरों को छोड़ दें, तो पंजाब और हरियाणा के गाँवों में खेतिहर मज़दूरी यही आबादी करती है। पंजाब और हरियाणा में जब लॉकडाउन के दौरान प्रवासी मज़दूरों का आना रुक गया था, तो मज़दूरी बढ़ने लगी थी क्योंकि श्रम की माँग बढ़ रही थी। ऐसे में, पंजाब और हरियाणा के धनी किसानों-कुलकों ने अपनी पंचायतें और खापें बुलाकर खेतिहर मज़दूरी पर एक सीलिंग तय कर दी थी। किसी भी मज़दूर को उससे ज़्यादा मज़दूरी नहीं दी जा सकती थी। यदि कोई माँगता तो उसका सामाजिक बहिष्कार होता। इन मज़दूरों को अपने गाँव से बाहर जाकर मज़दूरी करने की इजाज़त भी नहीं थी। जहाँ तक प्रवासी मज़दूरों की बात है, जो कि पंजाब और हरियाणा में बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड आदि से जाते हैं, उनके शोषण और उत्पीड़न में भी धनी किसानों-कुलकों का वर्ग कोई कसर नहीं छोड़कर रखता है।

ये है खेती में लगे वर्गों का एक विवरण : पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी फ़ार्मर (मालिक व किरायेदार), निम्न-मँझोला किसान, सीमान्त व छोटे किसान, और खेतिहर मज़दूर। इसके बाद आढ़तियों व व्यापारियों का वर्ग भी है, जिनकी भूमिका कम-से-कम पंजाब में अधिकांशतया ख़ुद पूँजीवादी भूस्वामी व पूँजीवादी फ़ार्मर ही निभाते हैं।

क्या इन वर्गों के एक हित हो सकते हैं? जब तक सामन्तवाद था और सामन्ती भूस्वामी वर्ग था, तब तक धनी किसान, उच्च मध्यम किसान, निम्न मध्यम किसान, ग़रीब किसान व खेतिहर मज़दूर का एक साझा दुश्मन था। आज जहाँ तक निम्न-मँझोले किसानों, ग़रीब किसानों व खेतिहर मज़दूरों के वर्ग का प्रश्न है, तो उसका प्रमुख शोषक और उत्पीड़क कौन है? वे हैं गाँव के पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी फ़ार्मर, सूदख़ोर और आढ़तियों-बिचौलियों का पूरा वर्ग। उनकी माँगें और हित बिल्कुल अलग हैं और गाँव के ग़रीबों की माँगें और हित बिल्कुल भिन्न हैं।

इसलिए जब आपसे कोई "किसान के हित" की बात करे, तो सबसे पहले पूछिये : कौन-सा किसान? उजरती श्रम का शोषण करके, लगान वसूलकर, सूद लूट कर ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों को निचोड़ने वाला धनी किसान व कुलक? या फिर 92 प्रतिशत किसान जिनकी आय का 50 प्रतिशत से भी ज़्यादा अब मज़दूरी से आता है, न कि खेती से? इन दोनों की माँगें एक कैसे हो सकती हैं? इसलिए हम मज़दूरों और ग़रीब किसानों को सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि **किसान कोई एक वर्ग नहीं है।** यह स्वयं कई वर्गों में बँटा हुआ समुदाय है जिनके अलग-अलग हित और अलग-अलग माँगें हैं। एक शोषक है, तो दूसरा शोषित है।

(पेज 8 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

(पेज 7 से आगे)

2. लाभकारी मूल्य की माँग कौन-से किसान की माँग है?

देश के कुल किसानों में से केवल 6 प्रतिशत को लाभकारी मूल्य का लाभ मिलता है। बेशक यह प्रतिशत अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। पंजाब और हरियाणा में और एक हद तक (अगर गेहूँ की बात की जाये) तो मध्यप्रदेश में यह प्रतिशत ज़्यादा है। लेकिन पंजाब में भी एक-तिहाई किसानों के पास 2 हेक्टेयर तक ही ज़मीनें हैं। वहाँ भी इस ग़रीब व सीमान्त किसानों के वर्ग को लाभकारी मूल्य का फ़ायदा इसलिए नहीं मिलता क्योंकि वे प्रमुख रूप से अनाज के ख़रीदार हैं, विक्रेता नहीं। पंजाब के खेतिहर मज़दूरों को इसका कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि हानि होती है; प्रवासी मज़दूरों को भी इसका नुक़सान ही होता है। इसका लाभ मुख्य तौर पर सबसे बड़े व उच्च मध्यम किसानों को होता है, जो पंजाब में कुल किसान आबादी का करीब एक-तिहाई हैं। पंजाब में कुलक, धनी किसान व उच्च मध्यम किसानों का घनत्व कुल किसान आबादी में देश के मुक़ाबले ज़्यादा है। इसकी वजह यह है कि 'हरित क्रान्ति' के दौरान पूँजीवादी धनी किसानों के एक पूरे वर्ग को राजकीय संरक्षण और समर्थन के साथ खड़ा करने का काम यहीं किया गया था। इस मामले में दूसरे नम्बर पर हरियाणा आता है। एमएसपी पर होने वाली कुल ख़रीद का करीब 70 फ़ीसदी इन्हीं दो राज्यों से आता है। यानी लाभकारी मूल्य के रूप में कृत्रिम रूप से ऊँची मुनाफ़ा दर यहीं के धनी किसानों-कुलकों के वर्ग को दी जा रही है और सरकारी ख़रीद भी सबसे ज़्यादा इन्हीं दो राज्यों से हो रही है। अब आप समझ गये होंगे कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन का केन्द्र पंजाब और दूसरे नम्बर पर हरियाणा क्यों बन रहा है। बाक़ी राज्यों में किसान जनसमुदायों का कोई व्यापक आन्दोलन नहीं है और अधिकांशतया कुछ विशेष संगठन और यूनियनें हैं जो कि इस पर प्रदर्शन आदि कर रही हैं। **इस बात से चाहे कोई कितना भी इंकार करना चाहे, यह आन्दोलन मूलत: और मुख्यत: पंजाब और एक हद तक हरियाणा के धनी किसानों-कुलकों का ही आन्दोलन है।**

लाभकारी मूल्य या एमएसपी क्या होता है?

सरकार का एक आयोग है जिसे कृषि लागत व क़ीमत आयोग कहा जाता है। यह आयोग नियमित अन्तराल पर कृषि की व्यापक लागत तय करता है जिसमें खेती में लगने वाले यंत्र, उपकरण, खाद, बीज, श्रम के ख़र्च को जोड़ा जाता है, फिर किसान के परिवार के सदस्यों के श्रम (धनी किसान के लिए यह बोनस है क्योंकि उसके परिवार के लोग खेत पर काम नहीं करते हैं) के दाम को जोड़ा जाता है, ब्याज को जोड़ा जाता है और लगान को भी जोड़ा जाता है (हालाँकि भारत में अधिकांश मामलों में ज़मीन के मालिक स्वयं पूँजीवादी धनी किसान ही हैं)। इसे सम्पूर्ण या व्यापक लागत कहा जाता है और सरकार इससे 30 से 50 फ़ीसदी ऊपर सरकारी दाम, यानी एमएसपी तय करती रही है। यानी, लागत के ऊपर 30 से 50 प्रतिशत तक का मुनाफ़ा।

इस ऊँचे सरकारी दाम के कारण कम-से-कम धान, गेहूँ, कपास, मक्का और कुछ दलहनों की बाज़ार क़ीमतें भी ऊँची हो जाती हैं। ये वे चीज़ें हैं जिनसे व्यापक आबादी का नियमित आहार बनता है। नतीजतन, भोजन पर व्यापक आबादी का ख़र्च बढ़ता है, उनके पोषण का स्तर गिरता है, अन्य आवश्यक वस्तुओं पर ख़र्च कम होता है और कुल मिलाकर उनका जीवन-स्तर नीचे जाता है।

इसके साथ ही, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को भी इससे लाभ नहीं बल्कि नुक़सान होता है। भारत में खाद्यान्नों के भारी रिज़र्व भण्डार के बावजूद एक अच्छी-ख़ासी आबादी के भूखा रहने का यह भी कारण है कि एमएसपी पर सरकारी ख़रीद के बाद सरकार इसे पूँजीपतियों को बेचना पसन्द करती है, न कि उसे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के ज़रिये ज़रूरतमन्दों तक पहुँचाना। इसके अलावा, बाज़ार क़ीमतें एमएसपी के कारण ही बहुत ऊँचे फ़्लोर लेवल पर तय हो जाती हैं और उन पर भी जमाख़ोरी का असर न पड़ता हो, ऐसा भी नहीं है।

नतीजतन, **लाभकारी मूल्य सीधे-सीधे आम शहरी व ग्रामीण मज़दूरों, शहरी निम्न मध्यवर्ग और साथ ही सीमान्त, छोटे व निम्न-मँझोले किसानों के हितों के विरुद्ध जाता है। यह तथ्य है। लेकिन तमाम कम्युनिस्ट इस सच्चाई से मुँह मोड़े खड़े हैं, क्योंकि उन्हें धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन में जगह पानी है और उसके नेतृत्व की गोद में बैठना है। लाभकारी मूल्य की माँग मूलत: और मुख्यत: धनी किसानों-कुलकों और उच्च मध्यम किसानों की ही माँग है।**

3. खेतिहर मज़दूरों की माँगें क्या हैं?

मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन से देश का शहरी मध्यवर्ग, जिसने सिर्फ़ ट्रेनों की खिड़कियों से गाँव देखा है और अपनी पाठ्यपुस्तक के चित्रों से समझा है, एकदम जज़्बाती हुए बैठा है। वह फ़ेसबुक और व्हाट्सएप पर स्टेटस लगा रहा है: "किसान अन्नदाता है, मैं अन्नदाता का कर्जदार हूँ।" इससे पता चलता है कि भारत का शहरी मध्यवर्ग राजनीतिक रूप से कितना निरक्षर है। पहली बात तो यह है कि अन्नदाता वह है जो वास्तव में खेतों में श्रम करता है। अगर धनी कुलक-किसान अन्नदाता हैं, तब तो फिर टाटा ट्रकदाता है, बाटा जूतादाता है, अम्बानी गैसदाता है, अडानी तेलदाता है, इत्यादि। धनी किसान पूँजी लगाता है, उजरती श्रम का शोषण करता है, बाज़ार के लिए उत्पादन करवाकर मुनाफ़ा कमाता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई भी पूँजीपति करता है। वह अन्नदाता नहीं है। **यदि कोई अन्नदाता है तो वह है खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों का वह पूरा वर्ग जो कि वास्तव में खेतों में काम करके अन्न उपजाता है।**

इस खेतिहर मज़दूर वर्ग की माँगें क्या हैं? क्या उन्हें मौजूदा तथाकथित "अन्नदाताओं" के आन्दोलन में कोई जगह मिली है? उनकी माँगें ये हैं: खेतिहर मज़दूरी को श्रम क़ानूनों के मातहत लाया जाये, खेतिहर मज़दूरों के लिए भी न्यूनतम मज़दूरी, आठ घण्टे के कार्यदिवस, समूचे कार्य-अनुबन्ध के दौरान साप्ताहिक छुट्टी, सामाजिक सुरक्षा, आदि के प्रावधान लागू किये जायें। इसके अलावा, खेतिहर मज़दूरों की एक बहुत बड़ी माँग है सार्वभौमिक रोज़गार गारण्टी, ताकि वे रोज़गार सुरक्षा हासिल कर सकें। अच्छी-खासी खेतिहर मज़दूरों व ग़रीब किसानों की आबादी आज खेती के क्षेत्र में बेशी आबादी है, जिसे हम प्रच्छन्न बेरोज़गारी भी कहते हैं। चूँकि उसके पास कहीं और रोज़गार की गारण्टी नहीं है, इसलिए वह खेती के क्षेत्र में अर्द्धबेरोज़गारी की स्थिति में जीती रहती है और कभी कोई काम करती है तो कभी कोई और। इस आबादी की सबसे बड़ी माँग रोज़गार या 'काम के हक़' की माँग है।

क्या इन माँगों को मौजूदा धनी किसान आन्दोलन में कोई जगह मिली है? नहीं। यदि इन माँगों को मौजूदा आन्दोलन के चार्टर में शामिल करने की बात भी की जाती हैं तो धनी किसानों की ओर से ये जवाब आते हैं: पहला - "हम ही नहीं रहेंगे तो इन मज़दूरों को रोज़गार कौन देगा?"; "कारपोरेट खेती होगी तो मशीनीकरण होगा और खेतिहर मज़दूर बेरोज़गार होंगे" (मानो अब तक धनी किसान व कुलक मशीनीकरण नहीं कर रहे थे); "ये खेतिहर मज़दूर कोई हमारे कर्मचारी थोड़े ही हैं, जो उन्हें न्यूनतम मज़दूरी, आठ घण्टे का कार्यदिवस आदि दिया जाये; वैसे भी सीज़न में इनकी मज़दूरी 700-800 रुपये दिहाड़ी तक चली जाती है।" यानी **जब खेतिहर मज़दूर अपने लिए राजकीय संरक्षण की माँग करें, तो धनी किसान-कुलक उन माँगों को अपने चार्टर में शामिल करने से सीधा इंकार कर देते हैं; लेकिन अपने लिए लाभकारी मूल्य के रूप में वे राजकीय संरक्षण चाहते हैं।** और इसके बावजूद कि उन्होंने ही अभी 3-4 महीने पहले खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी पर सीलिंग फ़िक्स की थी, वे अपने उत्पाद के दाम के लिए कृत्रिम रूप से ऊँचा फ़्लोर लेवल चाहते हैं। और ऊपर से तुर्रा यह कि इस आन्दोलन में वह "किसान-मज़दूर एकता" की बात कर रहे हैं!

स्पष्ट है कि मौजूदा आन्दोलन में खेतिहर मज़दूरों की माँगों को कोई स्थान नहीं दिया गया है और न ही यह खेतिहर मज़दूरों का आन्दोलन है। यह धनी किसानों-कुलकों का ही आन्दोलन है।

4. सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों की क्या माँगें हैं?

जो लोग उपरोक्त सच्चाइयों को बयान कर रहे हैं, उनके बारे में कुलकवादी और क़ौमवादी "कम्युनिस्ट" कहते हैं कि वे लोग ग़रीब किसानों के तबाह होने पर ताली बजा रहे हैं और इन्तज़ार कर रहे हैं कि जब ग़रीब किसान मज़दूर बन जायेंगे, तब वे समाजवादी क्रान्ति कर देंगे! यह एक झूठा और बेईमान आरोप है। क्यों? क्योंकि कुलकवादी और क़ौमवादी भी जानते हैं कि धनी किसानों की माँगें और ग़रीब किसानों की माँगें एक नहीं हैं। दूसरी बात, कारपोरेट पूँजी के खेती के क्षेत्र में प्रवेश के साथ ग़रीब किसानों के उजड़ने की रफ्तार कोई ख़ास बढ़ जायेगी, इसका कोई प्रमाण नहीं है। बिहार में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त होने का ग़रीब किसानों पर कोई असर नहीं पड़ा क्योंकि उन्हें वैसे भी लाभकारी मूल्य से कोई लाभ नहीं मिल रहा था। हाँ, उससे सबसे अमीर 2 प्रतिशत किसानों को अवश्य फ़र्क पड़ा क्योंकि उनका आर्थिक वर्चस्व टूटने लगा और लूट के माल का एक हिस्सा उनके हाथ से जाने लगा। दूसरी बात, ग़रीब किसान तो धनी किसानों-कुलकों की लूट की वजह से पहले भी तबाह हो रहे थे। इसकी प्रमुख वजह क़र्ज़ का दबाव रहा है। बैंकों से क़र्ज़ मिलने में दिक़्क़त के कारण ग़रीब किसानों को बेहद ऊँचे सूद पर धनी किसानों-कुलकों से क़र्ज़ लेना पड़ता है, और अक्सर ठेका खेती की व्यवस्था के तहत। धनी किसान-कुलक केवल कॉरपोरेट कम्पनियों के ठेका खेती के क्षेत्र में घुसने के ख़िलाफ़ हैं, न कि आम तौर पर ठेका खेती के, जो वे ग़रीब किसानों से ख़ुद करवाते हैं।

फिर सवाल यह है कि **सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों, यानी ग़रीब किसानों व अर्द्धसर्वहारा की अलग माँगें क्या हैं?** पहले हम विशिष्ट माँगों की बातें करेंगे। विशिष्ट माँगों में सबसे प्रमुख है कि खेती को दी जाने वाली सरकारी सब्सिडी का बड़ा हिस्सा खेती के आधारभूत ढाँचे के विकास पर ख़र्च किया जाये, जिसका सभी ग़रीब किसान इस्तेमाल करते हैं। मिसाल के तौर पर, सभी ग़रीब किसान सिंचाई के लिए मॉनसून व नहरों के नेटवर्क पर निर्भर करते हैं। जिनको ये सुविधाएँ नहीं मिलतीं, वे धनी किसानों से सिंचाई और अन्य सुविधाएँ किराये पर लेते हैं और इसमें भी लूटे जाते हैं। 1980 के दशक की शुरुआत से पहले कृषि सब्सिडी का बड़ा हिस्सा एमएसपी पर नहीं बल्कि नहरों आदि के निर्माण पर ख़र्च किया जाता था। 1980 के दशक में कुलक-धनी किसानों के राजनीतिक नेतृत्व के दबाव में भारतीय राज्य ने लाभकारी मूल्य पर ख़रीद करने पर ख़र्च लगातार बढ़ाया, जबकि खेती की अवसंरचना पर होने वाला ख़र्च कम होता गया। वह पहले भी अपर्याप्त था, लेकिन बाद में यह भयंकर रूप से कम होता गया। इसका सबसे बुरा असर ग़रीब किसानों पर पड़ा।

साथ ही, पूँजीवादी फ्रेमवर्क में एक विशिष्ट माँग के तौर पर यह कहा जाना चाहिए कि ग़रीब से ग़रीब किसान के लिए संस्थागत ऋण उपलब्ध होना राज्य की ज़िम्मेदारी है। चूँकि ग़रीब किसानों तक संस्थागत ऋण की पहुँच नहीं है, इसलिए वे अपनी चालू पूँजी के लिए भी धनी किसानों-कुलकों पर निर्भर करते हैं। ये ऋण बेहद अन्यायपूर्ण ब्याज दरों पर दिये जाते हैं। ग़रीब किसानों की भारी आबादी के ज़मीन से उजड़ने और आत्महत्याओं के लिए भी ये अन्यायपूर्ण ऋण जिम्मेदार हैं, जो संस्थागत ऋण न मिलने पर धनी किसानों-कुलकों द्वारा उन्हें दिये जाते हैं। आज संस्थागत ऋण 30 प्रतिशत से भी कम किसानों को मिलता है और उसमें भी ज़्यादा लाभ उच्चतम 10 प्रतिशत किसानों को मिलता है। जब कोई क़र्ज़-माफ़ी भी होती है, तो उसका सबसे बड़ा लाभ भी इन्हीं धनी किसानों को मिलता है। लेकिन क्या आपने सुना है कि सूदख़ोरी करने वाले गाँव के धनी किसान, कुलक या आढ़तिये ने ग़रीब किसानों व अर्द्धसर्वहारा के लिए क़र्ज़-माफ़ी की हो?

एक अन्य महत्वपूर्ण माँग यह है कि *सरकार धनी किसानों व आम तौर पर धनी वर्गों पर प्रगतिशील कर लगाये और उसके आधार पर* समूची किसान आबादी को उचित दरों पर सरकारी माध्यम से बीज, खाद आदि उपलब्ध कराये, वैज्ञानिक खेती के लिए सरकारी तौर पर प्रशिक्षण सुनिश्चित करे। पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में ये माँगें ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों की महत्वपूर्ण माँगें हैं और उन्हें तात्कालिक तौर पर सहायता पहुँचाती हैं। हमने यहाँ प्रगतिशील कर प्रणाली की माँग इसलिए जोड़ी है क्योंकि उसके बिना यदि खेती में लागत मूल्य को कम करने की माँग उठायी जाती है, तो वह व्यापक सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ जाती है। सरकार खेती की लागतों के उत्पादन में लगी मज़दूर आबादी की वास्तविक औसत मज़दूरी को कम किये बिना ऐसा तभी कर सकती है, जबकि वह धनी किसानों-कुलकों, पूँजीपतियों के पूरे वर्ग पर प्रगतिशील कर लगाये।

इन विशिष्ट माँगों के अलावा छोटे, सीमान्त व निम्न-मँझोले

(पेज 9 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

(पेज 8 से आगे)

किसानों की एक आम माँग है जो कि खेतिहर व शहरी मज़दूरों के साथ साझा माँग है : रोज़गार गारण्टी की माँग। 2012-13 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में ही आधे किसानों ने कहा था कि छोटी जोत की खेती का कोई भविष्य नहीं है और वह पहला मौका मिलते खेती छोड़ देना चाहते हैं। लेकिन पक्की और सरकारी नौकरी के बिना वह खेती छोड़ भी नहीं पा रहे हैं। **यह भी सच है कि भारत में उत्पादकता के स्तर के अनुसार एक अच्छी-ख़ासी खेतिहर आबादी की खेती में कोई खपत नहीं है, लेकिन वह उसी में प्रच्छन्न बेरोज़गारी, अर्द्धभुखमरी और ऋण के हालात में जीती रहती है क्योंकि उसके पास और कोई विकल्प नहीं है।** नतीजतन, एक भारी ग़रीब किसान आबादी के लिए रोज़गार गारण्टी का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार है और उसकी माँग बनती है कि राष्ट्रीय रोज़गारी गारण्टी क़ानून पारित कराया जाये और 'काम के हक़' को क़ानूनी तौर पर बाध्यताकारी बनाने के लिए लड़ा जाये।

एक अन्य महत्वपूर्ण आम माँग जो कि ग़रीब किसानों की माँग भी है और समस्त मज़दूर वर्ग की माँग भी है, वह है सार्वभौमिक सार्वजनिक वितरण प्रणाली की माँग। **भारत में सीमान्त व ग़रीब किसान परिवारों की औसत मासिक आय अक्सर मज़दूरों की औसत आय से भी कम है। कहने को वे एक छोटी-सी जोत के मालिक हैं, लेकिन यह छोटी जोत की खेती उन्हें कुछ देती नहीं है, बस पीती जाती है। उनके घरों से कुछ प्रवासी मज़दूर बाहर काम करके कमाकर कुछ घर भेजते भी हैं, तो वह खेती और क़र्ज़ में चला जाता है। ऐसे में, ये परिवार भयंकर खाद्य असुरक्षा में भी जीते हैं। एक सार्वभौमिक सार्वजनिक वितरण प्रणाली उनकी एक अहम आम माँग बनती है।**

इन मांगों को उठाने के साथ सर्वहारा वर्ग के हिरावल का यह कार्यभार भी है कि वह ग़रीब और सीमान्त किसानों को समझाए कि यदि उपरोक्त मांगों के पूरा होने के साथ उन्हें कुछ मदद और तात्कालिक राहत मिल भी जाए, तो पूंजीवादी व्यवस्था के रहते वे प्रतिस्पर्द्धा में धनी किसानों-कुलकों व साथ ही खेती में प्रवेश करने वाली कारपोरेट पूंजी के समक्ष नहीं टिक सकते हैं। यह पूंजीवाद का नियम है कि बड़ी पूंजी छोटी पूंजी को निगलती है और यह प्रक्रिया स्वत:स्फूर्त रूप से बाज़ार व्यवस्था में जारी रहती है। हर ग़रीब किसान जानता है कि छोटी जोत की व्यवस्था पूंजीवाद में बड़े पैमाने के खेती उत्पादन के समक्ष नहीं टिक सकती क्योंकि उसकी लागत ज़्यादा होती है। इसलिए वह प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं सकती। इसलिए सर्वहारा क्रान्तिकारी कोई झूठी उम्मीद नहीं जगाते बल्कि यह सच भी ग़रीब किसानों को बताते हैं, हालांकि वे उपरोक्त मांगों पर ग़रीब किसानों को जागृत, गोलबन्द और संगठित भी करते हैं।

ये वे माँगें हैं जो कि व्यापक सीमान्त, छोटी और निम्न-मँझोली किसान आबादी की विशिष्ट और आम माँगें हैं। क्या मौजूदा धनी किसान आन्दोलन उपरोक्त माँगों को उठायेगा? नहीं! क्योंकि उसके हित और माँगें बिल्कुल अलग हैं। यहाँ भी हम देख सकते हैं कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन का चार्टर और उसकी माँगों का वर्ग चरित्र क्या है। यह स्पष्ट रूप से धनी किसानों-कुलकों का आन्दोलन है।

लेकिन फिर सवाल उठता है कि इस आन्दोलन में विशेष तौर पर पंजाब और हरियाणा से बहुत-से सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसान भी क्यों शामिल हो रहे हैं? यह हमें अगले मुद्दे पर लाता है।

5. किसी आन्दोलन का वर्ग-चरित्र कैसे तय होता है?

मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन का समर्थन करने वाले कई कम्युनिस्ट संगठन एक तर्क यह दे रहे हैं कि चूँकि इस आन्दोलन में ग़रीब और मँझोले किसानों की तादाद भी आ रही है, इसलिए यह ग़रीब और मँझोले किसानों का भी आन्दोलन है।

यह तर्क ग़लत है। क्यों? **किसी आन्दोलन का चरित्र उसमें आने वाली भीड़ से तय नहीं होता है।** जो यह नहीं समझता वह राजनीति और विचारधारा की भूमिका भूल चुका है और भोंडी भौतिकवादी बात कर रहा है, जो उसी को सच मानता है जो दिखता है। लेकिन जैसा कि मार्क्स ने कहा था, अगर जो दिखता है वही सच होता तो विज्ञान की कोई ज़रूरत नहीं होती।

फिर सवाल यह उठता है कि किसी आन्दोलन का वर्ग चरित्र तय कैसे होता है? **किसी आन्दोलन का वर्ग चरित्र सबसे पहले उसकी माँगों के चार्टर से तय होता है, जिसका अध्ययन आपको यह बताता है कि वह किन वर्ग हितों की नुमाइन्दगी कर रहा है, उसकी राजनीति क्या है, उसके नेतृत्व का चरित्र क्या है और उसकी विचारधारा क्या है।** आन्दोलन में कौन-कौन से वर्गों के जनसमुदाय भागीदारी कर रहे हैं, यह उसके वर्ग चरित्र के विश्लेषण में उपरोक्त कारकों के निर्धारण के बाद केवल एक सहायक कारक हो सकता है, और अपने आप में वह किसी भी आन्दोलन के बारे में कुछ नहीं बताता। इसको कुछ मिसालों से समझें।

यदि किसी आन्दोलन का चरित्र उसमें आने वाली भीड़ से तय होता है, तो ग़रीब किसान, लम्पट सर्वहारा, यहाँ तक कि शहरी औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का एक हिस्सा भी कारसेवा और राम मन्दिर आन्दोलन में जा रहा था। कारसेवकों की भीड़ में आपको कोई धनपति बिरले ही मिलता। अधिकांश लोग मेहनतकश वर्गों और टुटपुँजिया वर्ग के निचले संस्तरों से, जिन्हें हम अक्सर समाजशास्त्रीय भाषा में निम्न मध्य वर्ग कह देते हैं, आने वाले ही मिलते। तो क्या इसके आधार पर आप कह सकते हैं कि राम मन्दिर आन्दोलन मेहनतकश वर्गों का एक आन्दोलन था? नहीं! क्योंकि उस आन्दोलन की राजनीति और विचारधारा एक प्रतिक्रियावादी राजनीति और विचारधारा थी, और राजनीतिक वर्ग चेतना के अभाव में असुरक्षा, अनिश्चितता और बेरोज़गारी से तंग-परेशान व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय का एक हिस्सा साम्प्रदायिक फ़ासीवादी प्रचार और उन्माद में बह रहा था। यह एक ऐसा आन्दोलन था जो कि बड़ी एकाधिकारी पूँजी और आम तौर पर संकट के दौर में पूँजीपति वर्ग की सेवा करता था, वर्ग संघर्ष की धार को कुन्द करता था, अस्मितावादी और साम्प्रदायिक राजनीति के ज़रिये असल मुद्दों को नेपथ्य में धकेलता था, व्यापक मेहनतकश आबादी के सामने एक नकली शत्रु खड़ा करता था और इस रूप में पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग की हिफ़ाज़त करता था। इसलिए यह आन्दोलन बड़ी पूँजी के हितों की सेवा करने वाला टुटपुँजिया प्रतिक्रियावादी आन्दोलन था।

निश्चित तौर पर, मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन कोई साम्प्रदायिक फ़ासीवादी आन्दोलन नहीं है, न ही यह कोई धुर दक्षिणपंथी आन्दोलन है। लेकिन यह आन्दोलन भी मेहनतकश जनता के हितों की नुमाइन्दगी नहीं करता है। सीधी-सी बात है : **जो उजरती श्रम का शोषण करके मुनाफ़ा कमाते हैं और इसी पर उनकी अर्थव्यवस्था टिकी है, यानी धनी किसान-कुलक-फ़ार्मर, और वे जो अपना उजरती श्रम बेचते हैं, यानी ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा (छोटे और सीमान्त किसान), उनके हित एक समान नहीं हो सकते।** लाभकारी मूल्य की माँग उनकी साझा माँग भी नहीं है क्योंकि ग़रीब और सीमान्त किसानों के पास आम तौर पर बेचने लायक़ इतना बेशी उत्पाद बचता ही नहीं है कि वे मुख्य रूप से खाद्यान्न के विक्रेता हों, बल्कि वे मुख्य रूप से खाद्यान्न के ख़रीदार होते हैं। ये छोटे और सीमान्त किसान कुल किसान आबादी में 92 प्रतिशत हैं और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था से उन्हें नुक़सान होता है, फ़ायदा तो बहुत दूर की बात है। जो खेतिहर मज़दूर हैं जिनकी तादाद अब भारत के गाँवों में किसानों से ज़्यादा हो चुकी हैं, उन्हें तो लाभकारी मूल्य बढ़ने का सीधे-सीधे नुक़सान होता है। यानी, **लाभकारी मूल्य का कुल फ़ायदा केवल 6 प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों को मिलता है, जिनको राजकीय संरक्षण के तौर पर मिलने वाली इस कृत्रिम मुनाफ़ा दर की क़ीमत पूरा मेहनतकश वर्ग चुकाता है** और एक दूसरे अर्थ में बड़ा औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग भी चुकाता है, जिसकी वजह से वह लाभकारी मूल्य को समाप्त करना चाहता है। मामला काफ़ी-कुछ 19वीं सदी में इंग्लैण्ड के अनाज क़ानूनों (corn laws) जैसा है, जिस पर हम कभी अलग से 'मज़दूर बिगुल' में लिखेंगे।

सभी जानते हैं कि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन मूलत: और मुख्यत: लाभकारी मूल्य पर ही केन्द्रित है, भले ही किसान संगठन तीनों कृषि क़ानूनों को रद्द करने की बात दोहराते रहते हैं। शुरू में कुछ लोग इस तथ्य को नकार रहे थे, लेकिन छह दौर की वार्ताओं के बाद, उनके लिए भी यह दावा करना मुश्किल हो गया है। खैर, लाभकारी मूल्य की यह माँग मज़दूर वर्ग, ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों और आम तौर पर मेहनतकश ग़रीब आबादी की माँग है ही नहीं। ये सभी जानते हैं, लेकिन साहस का अभाव तमाम कम्युनिस्टों को इस मुद्दे पर सही अवस्थिति अपनाने से रोक रहा है। कई लोग गोलमाल बात कर रहे हैं कि "हाँ, ये माँग तो धनी किसानों की ही माँग है, लेकिन अभी मोदी सरकार को चुनौती मिल रही है इसलिए हमें इसका साथ देना चाहिए" या "एमएसपी तो ग़लत है लेकिन ज़रूरी है क्योंकि एमएसपी ख़त्म हो गया तो सार्वजनिक वितरण प्रणाली और सरकारी ख़रीद ख़त्म हो जायेगी" (इसका खण्डन हम 'मज़दूर बिगुल' के अगले अंक में आँकड़ों और तथ्यों के साथ करेंगे)। असल बात यह है कि क्रान्तिकारी साहस का अभाव और एक गहरा निराशाबोध और पराजयबोध है, जो किसी भी गुज़रती ट्रेन पर सवार हो जाने के लिए इन कम्युनिस्टों को मजबूर कर रहा है।

आखिरी में एक सवाल : मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के समर्थन में पलक-पाँवड़े बिछाने वाले तमाम कम्युनिस्ट उस समय चुप क्यों रहे जब ये ही "क्रान्तिकारी", "फ़ासीवाद-विरोधी" कुलक और धनी किसान अभी तीन-चार महीने पहले ही खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी पर सीलिंग फ़िक्स कर रहे थे? यह परिघटना सभी की निगाह में थी। पंजाब के कम्युनिस्ट ग्रुपों की निगाह में भी थी। सभी जानते थे कि लॉकडाउन के समय श्रम आपूर्ति कम हो गयी थी, जिसके कारण औसत खेतिहर मज़दूरी बढ़ रही थी। उसके बढ़ने पर तो धनी किसानों-कुलकों ने अपनी पंचायतें और खापें बुलाकर सीलिंग लगायी ताकि खेतिहर मज़दूरों से कम मज़दूरी देकर काम कराया जा सके। लेकिन अपने उत्पाद के दाम पर वे एक सरकारी फ़्लोर लेवल चाहते हैं! यानी, खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी जब आपूर्ति बढ़ने की वजह से घटे, तब किसान 'मुक्त बाज़ार' के नियम के पुजारी बन जाते हैं, और जब आपूर्ति के माँग से कम होने पर वह बढ़े तो वह उस मज़दूरी को 'मुक्त बाज़ार' पर नहीं छोड़ते बल्कि उसपर सीलिंग लेवल फ़िक्स करते हैं! लेकिन अपने उत्पाद के लिए वे सरकार से न्यूनतम क़ीमत तय करवाना चाहते हैं, और वह भी लागत का 150 प्रतिशत, यानी लागत के ऊपर 50 प्रतिशत का मुनाफ़ा सुनिश्चित करना! लेकिन अपने आपको मज़दूर वर्ग का हिरावल और समूची मेहनतकश जनता (मजदूर वर्ग, ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों, निम्न मध्य वर्ग) का नेतृत्वकारी कोर बताने वाले हमारे नरोदवादी और क़ौमवादी कम्युनिस्ट ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों के साथ कुलकों व धनी किसानों द्वारा किये जाने वाले इस बर्ताव पर चुप रहते हैं। यह दक्षिणपंथी अवसरवाद नहीं तो और क्या है? ये कम्युनिस्ट ग्रुप लेनिन और स्तालिन की कार्यदिशा पर हैं, या फिर बुखारिन की दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशा पर जिसने कुलकों को "अमीर बनो!" का नारा दिया था? यह तर्कशील पाठक स्वयं निर्णय करें।

आज कम्युनिस्ट शक्तियों का तो यह कार्यभार था कि वह ग़रीब, सीमान्त व निम्न-मँझोले किसानों को बताते कि निश्चित तौर पर कॉरपोरेट पूँजी (जो और कुछ नहीं है बल्कि बड़ी एकाधिकारी पूँजी है) हमारी दुश्मन है, लेकिन ग्रामीण पूँजीपति वर्ग (धनी किसान व कुलक वर्ग) हमारा उससे कम दुश्मन नहीं है। राजनीतिक जनवादी माँगों के सिवाय धनी किसानों व कुलकों व उनके संगठनों के साथ, या आम तौर पर छोटे पूँजीपति वर्ग व उनके संगठनों के साथ, हमारा कोई मोर्चा नहीं बन सकता है। मिसाल के तौर पर, हम किसी भी रूप में राजकीय दमन के ख़िलाफ़ हैं, हम राजनीतिक बन्दियों के अधिकारों के हनन के ख़िलाफ़ हैं, हम सीएए-एनआरसी के मुद्दे पर उनके साथ मोर्चे के पुरज़ोर समर्थक हैं।

लेकिन **लाभकारी मूल्य की माँग कोई जनवादी अधिकारों की माँग नहीं है, बल्कि ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की आर्थिक माँग है, जो कि वह कुल विनियोजित बेशी मूल्य में अपनी हिस्सेदारी को बनाये रखने और बढ़ाने के लिए बड़े इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग के समक्ष उठा रहा है। इस पर किसी भी प्रकार का मोर्चा नहीं बन सकता है। ग़रीब व निम्न-मँझोले किसान तथा खेतिहर मज़दूर उजरती श्रम के बड़े और अपेक्षाकृत छोटे, दोनों ही शोषकों के समक्ष अपनी वर्ग माँगों को रखेंगे।**

व्यापक ग़रीब और निम्न-मँझोली किसान आबादी का एक हिस्सा तीन कारणों से मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन में आ रहा है। पहला, राजनीतिक वर्ग चेतना की

(पेज 10 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

(पेज 9 से आगे)

कमी। वह अपने वर्ग हितों को धनी किसानों के वर्ग हितों से अलग करके नहीं देख पाता है और इस वर्ग चेतना के अभाव में वह धनी किसानों-कुलकों की नुमाइन्दगी करने वाले कुलक संगठनों की पूँछ पकड़कर घिसटता रहता है। दूसरा, दर्जनों प्रकार के आर्थिक बन्धनों के ज़रिये यह ग़रीब किसान आबादी धनी किसानों-कुलकों पर निर्भर रहती है; उन्हें उसी गाँव में रहकर गुज़ारा करना है। किसी स्वायत्त और स्वतंत्र ग़रीब किसान संगठन व राजनीतिक चेतना के अभाव में उसके पास धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन में शिरकत के अलावा कोई चारा नहीं होता है। तीसरा, जिन कम्युनिस्ट ताक़तों को एक स्वतंत्र राजनीतिक वर्ग चेतना और राजनीतिक संगठन के निर्माण का कार्य इन ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों के बीच करना था, वे ही उन्हें धनी किसानों की पालकी का कहार बना रहे हैं।

इसलिए मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन में तमाम ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों की शिरकत से हम आन्दोलन का वर्ग चरित्र नहीं तय कर सकते हैं, बल्कि हमें उस शिरकत के भौतिक कारणों और पृष्ठभूमि को समझना चाहिए और साथ में मौजूदा आन्दोलन की ठोस माँगों के आधार पर उसके वर्ग चरित्र का फैसला करना चाहिए।

6. क्या मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन है?

जिन कुलकवादी-क़ौमवादी कम्युनिस्टों को मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन का समर्थन करने के लिए और कुछ भी समझ नहीं आ रहा है, उनका तर्क है कि यह आन्दोलन चूँकि मोदी सरकार के लिए एक चुनौती बन गया है, इसलिए हमें इसका समर्थन करना चाहिए। इन लोगों के अनुसार, ठीक इसी वजह से यह आन्दोलन एक फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन है।

पहली बात तो यह है कि सिर्फ़ मोदी सरकार का विरोध करने के कारण अगर कोई शक्ति या कोई आन्दोलन फ़ासीवाद-विरोधी हो जाता है तो शिवसेना और महाराष्ट्र के महागठबन्धन को भी फ़िलहाल फ़ासीवाद-विरोधी क्यों न मान लिया जाये? महाराष्ट्र में शिवसेना फ़िलहाल भाजपा के लिए निस्सन्देह एक चुनौती है। उसी प्रकार तेजस्वी यादव से बिहार में हाथ मिला लेना चाहिए। संशोधनवादियों ने तो मिला ही लिया था, तमाम अन्य मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्टों को भी मिला लेना चाहिए था! यह पूरा तर्क "कम बुरे को चुनने" के तर्क से पैदा हो रहा है।

दूसरी बात, **धनी किसानों-कुलकों का आन्दोलन आज मोदी सरकार के लिए एक स्तर पर अवश्य चुनौती बन गया है, लेकिन इसकी वजह यह है कि यह शासक वर्ग के ही एक राजनीतिक व सामाजिक रूप से शक्तिशाली धड़े द्वारा किया जा रहा आन्दोलन है।** हज़ारों ट्रैक्टरों, छह माह के राशन के साथ धनी किसान-कुलक दिल्ली के बॉर्डर पर पिछले डेढ़ माह से मौजूद हैं। इसके समर्थन में भाजपा को छोड़कर अन्य सभी पूँजीवादी पार्टियाँ हैं, एक मंत्री इस्तीफ़ा दे चुका है, दो दल समर्थन वापस ले चुके हैं, अतिधनाढ्य पंजाबी पॉप स्टार जैसे सिद्धू मूसेवाला, जैज़ी बी, दिलजीत दुसांझ आदि इसके समर्थन में आ चुके हैं, कनाडा और अमेरिका से एनआरआई करोड़ों रुपये चन्दा भेज चुके हैं, कई बॉलीवुड स्टार इसके समर्थन में आ गये हैं! कई बार लक्षणों से भी किसी आन्दोलन का वर्ग चरित्र पता चलता है। क्या आपको याद है कि आम मेहनतकश जनता के किसी आन्दोलन में कभी ऐसा हुआ है? तूतीकोरिन में गोली काण्ड पर क्या किसी मन्त्री ने इस्तीफ़ा दिया था? ग्वालियर मज़दूर गोली काण्ड पर क्या पूँजीवादी दलों ने समर्थन वापस लिया था? मारूति के मज़दूरों के समर्थन में क्या कोई पॉप स्टार या बॉलीवुड की हस्ती आयी थी? अभी हाल ही में बेंगलुरु की आईफ़ोन फैक्ट्री में मज़दूरों की बग़ावत के समर्थन में कभी कोई नेता-मंत्री आया? नहीं! जिस वर्ग का यह आन्दोलन है, उसके लिए मज़दूरों के मुक़ाबले यह कहीं ज़्यादा आसान है कि वह छह महीने के राशन-पानी के साथ दिल्ली के बॉर्डर पर घेरा डाल सके, क्योंकि उसके पास उजरती मज़दूरी की लूट से जुटायी गयी भारी दौलत है। मज़दूरों को कोई लम्बी हड़ताल भी चलानी होती है तो उन्हें महीनों तैयारी करनी पड़ती है क्योंकि वे रोज़ कुआँ खोदते और रोज़ पानी पीते हैं। तभी जाकर वह सरकार या किसी बड़े नियोक्ता/कम्पनी के लिए चुनौती बन पाते हैं। **मौजूदा अन्तरविरोध शासक पूँजीपति वर्ग के दो धड़ों के बीच है: ग्रामीण पूँजीपति वर्ग और बड़ा इज़ारेदार औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग। यही सच है, चाहे किसी को अच्छा लगे या बुरा।**

तीसरी बात, **दो ठोस उदाहरणों से समझें कि मौजूदा आन्दोलन कोई फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन नहीं है।** 10 दिसम्बर को अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस था। वामपंथी रुझान वाले नेतृत्व की एक यूनियन बीकेयू (एकता उग्राहां) ने इस दिन किसान आन्दोलन में भी राजनीतिक बन्दियों की मुक्ति की माँग उठाने का फ़ैसला किया। यह बिल्कुल सही जनवादी कदम था। इसके तहत इस यूनियन ने उमर ख़ालिद, वरवर राव, जी.एन. साईबाबा, वर्नोन गोंजाल्वेस, सुधा भारद्वाज, गौतम नवलखा जैसे राजनीतिक कैदियों के प्रति जारी अत्याचार को बन्द करने की माँग उठायी, इन क़ैदियों की तस्वीरों के साथ प्रदर्शन किया। लेकिन बीकेयू (एकता उग्राहां) के नेतृत्व के इस सही कदम और फ़ैसले का तत्काल बाक़ी 32 यूनियनों और उनके नेतृत्व ने कड़ा विरोध किया। उन्होंने एक बयान जारी करके कहा कि एकता उग्राहां द्वारा इस आन्दोलन को राजनीतिक हितों के लिए इस्तेमाल न किया जाये, यह आन्दोलन पूरी तरह से कृषि क़ानूनों की वापसी और एमएसपी पर केन्द्रित है और फ़िज़ूल के राजनीतिक मसले उठाकर इसका ध्यान भटकाया न जाये। कोई भी फ़ासीवाद-विरोधी ही नहीं बल्कि आम तौर पर जनवादी आन्दोलन इस माँग को अवश्य उठाता। लेकिन यहाँ पर जब एक यूनियन ने यह माँग उठायी भी तो बाक़ी सभी यूनियनों ने इससे किनारा कर लिया और एकता उग्राहां के नेतृत्व को भी बैकफ़ुट पर जाकर बयान देकर यह मानना पड़ा कि 'हाँ, आन्दोलन का मुख्य मुद्दा तो एमएसपी ही है।'

दूसरी घटना भी दिखलाती है कि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन पूरी तरह से ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की एक आर्थिक माँग यानी एमएसपी पर केन्द्रित है और उसे अन्य मसलों से कोई विशेष सरोकार नहीं है। जामिया मिल्लिया इस्लामिया के छात्रों का एक समूह दिल्ली के यूपी बॉर्डर पर बैठे किसानों के समर्थन में वहाँ गया, तो वहाँ मौजूद किसानों ने पुलिस से जाकर शिकायत कर दी और कहा कि वे नहीं चाहते कि जामिया के छात्र यहाँ समर्थन करने आयें। वजह क्या थी? जामिया मिल्लिया इस्लामिया की पूरी छवि मोदी की फ़ासीवादी सरकार ने आतंकवाद और इस्लामिक कट्टरपंथ के अड्डे के तौर पर और देशद्रोहियों के ठिकाने के तौर पर बनायी थी। इन धनी किसानों को मोदी सरकार द्वारा जामिया को इस प्रकार निशाना बनाये जाने का विरोध करना तो दूर वहाँ से आये छात्रों का समर्थन स्वीकार करना भी गवारा नहीं था, क्योंकि उन्हें लगता था कि उनका मूल मुद्दा किनारे हो जायेगा और उनके आन्दोलन की छवि ख़राब हो जायेगी।

निश्चय ही यह किसी फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन की विशिष्टताएँ नहीं थीं! किसान नेताओं ने बार-बार ख़ुद भी स्पष्ट किया है कि वे बस एमएसपी की व्यवस्था को क़ानूनी अधिकार बनाना चाहते हैं और यदि सरकार का कहना सही है कि पहले दो क़ानूनों से लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर कोई ख़तरा नहीं है, तो सरकार हमें एक चौथा क़ानून दे दे जो कि एमएसपी पर ख़रीद को सरकार और निजी ख़रीदारों, दोनों के लिए ही बाध्यकारी बना दे। जब तक मोदी सरकार लाभकारी मूल्य को लगातार बढ़ा रही थी, तब तक धनी किसानों-कुलकों के वर्ग को मोदी सरकार के फ़ासीवादी चरित्र से कोई परेशानी नहीं थी। उल्टे धान पर लाभकारी मूल्य में भारी बढ़ोत्तरी के लिए कई यूनियनों ने मोदी सरकार को धन्यवाद भी दिया था।

लुब्बेलुआब यह कि आज भी मोदी सरकार यदि एमएसपी को क़ानूनी अधिकार बनाना स्वीकार कर ले तो यह आन्दोलन समाप्त हो जायेगा क्योंकि उससे ज़्यादा इसकी कोई माँग ही नहीं है। न तो यह अपने चरित्र और प्रकृति से फ़ासीवाद-विरोधी है और न ही कॉरपोरेट-विरोधी, यदि हर स्थिति में उसे एमएसपी मिलता रहे। सच्चाई तो यही है। लेकिन पराजयबोध और निराशा-हताशा के शिकार तमाम कम्युनिस्टों को भी लग रहा है कि यह फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन है! चूँकि **फ़िलहाल मज़दूर वर्ग की ताक़तें इतनी गोलबन्द और संगठित नहीं हैं, उनके बीच एक मज़बूत और सूझबूझ वाला राजनीतिक नेतृत्व नहीं मौजूद है, चूँकि मज़दूर आन्दोलन की शक्तियाँ बिखरी हुई हैं, इसलिए मज़दूर वर्ग तत्काल कोई बड़ा आन्दोलन या चुनौती मोदी सरकार के समक्ष नहीं खड़ा कर सकता है। ऐसे में मध्यवर्गीय जल्दबाज़ी और रूमानीवाद और साथ ही निराशावाद और पराजयवाद से एक साथ लैस टुटपुँजिया "कम्युनिस्ट" क्रान्तिकारी, जैसे नरोदवादी, क़ौमवादी, कुलकवादी "कम्युनिस्ट" बहती गंगा में हाथ धोने के लिए व्याकुल हो उठे हैं। जबकि विशेष तौर पर इस समय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का काम था कॉरपोरेट पूँजी के विरुद्ध ग़रीब किसानों, निम्न-मँझोले किसानों, खेतिहर मज़दूर आबादी और साथ ही शहरी मज़दूर आबादी को उनकी साझा माँगों पर जागृत, गोलबन्द और संगठित करना और आम तौर पर पूँजीवादी लूट और शोषण के विरुद्ध व्यापक मेहनतकश ग़रीब आबादी को संगठित करना, चाहे वह ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के हाथों हो या फिर कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के हाथों। केवल तभी शासक वर्ग के इन दो धड़ों के बीच के अन्तरविरोधों को सर्वहारा वर्ग और उसके मित्र वर्गों (ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों, निम्न मध्य वर्गों) के हितों के फ़ायदे के मुताबिक तीख़ा भी बनाया जा सकता था।** लेकिन अफ़सोस है कि मौजूदा आन्दोलन के आकार और आक्रामकता को देखकर कई पढ़े-लिखे कम्युनिस्ट भी एक बेहद बुनियादी चीज़ को भूल गये हैं : वह है राजनीतिक वर्ग विश्लेषण।

7. क्या एमएसपी को बचाना सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए ज़रूरी है?

सीधा जवाब है नहीं। धनी किसान-कुलक आन्दोलन के पीछे घिसट रहे कई नरोदवादी कम्युनिस्ट और क़ौमवादी "मार्क्सवादी" लाभकारी मूल्य की माँग को जायज़ ठहराने के लिए यह दावा कर रहे हैं कि लाभकारी मूल्य को बचाना ज़रूरी है क्योंकि उसके बिना सार्वजनिक वितरण प्रणाली नहीं बचेगी। कुछ का कहना है कि लाभकारी मूल्य से खाद्यान्न की क़ीमतें नीची और स्थिर रहती हैं। कुछ अन्य का दावा है कि लाभकारी मूल्य के कारण खेती में उत्पादकता में बढ़ोत्तरी को बढ़ावा मिलता है। क्या ये दावे सही हैं? आइये तर्कों और तथ्यों के आधार पर इनकी पड़ताल करते हैं।

सबसे पहली बात : **लाभकारी मूल्य का सार्वजनिक वितरण प्रणाली से कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है।** सार्वजनिक वितरण प्रणाली की स्थापना भारत में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान औपनिवेशिक अंग्रेज़ सरकार द्वारा की गयी थी, हालाँकि तब इसे सार्वजनिक वितरण प्रणाली नहीं कहा जाता था। यह एक प्रकार की फ़ूड राशनिंग की व्यवस्था थी। आज़ादी के बाद पहली पंचवर्षीय योजना यानी कि 1951 से 1956 के दौर में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के नाम से इस व्यवस्था को चलाया और बढ़ाया गया। याद रहे, इस समय लाभकारी मूल्य का कोई तंत्र मौजूद नहीं था। इस दौर में इसकी पहुँच गाँवों व शहरों के ग़रीबों तक बनाने का लक्ष्य रखा गया। यह उस समय पूँजीपति वर्ग की भी आवश्यकता थी क्योंकि उस समय उसे एक स्वस्थ और कुशल कार्यशक्ति की भी आवश्यकता थी। यही कारण था कि इसी दौर में तमाम तकनीकी प्रशिक्षण संस्थानों की भी स्थापना की गयी।

खाद्य सुरक्षा एक बड़ा मसला था। लेकिन खेती में सामन्ती अवशेष और साथ ही छोटी किसान अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन और निम्न उत्पादकता के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर नहीं थी और उसे खाद्यान्न का आयात तक करना पड़ रहा था। यह स्थिति औद्योगिक विकास को भी अवरुद्ध कर रही थी। यही कारण था कि 1960 के दशक में 'हरित क्रान्ति' की शुरुआत की गयी और उसकी प्रारम्भिक प्रयोग भूमि पंजाब को बनाया गया। इसमें पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना की एक अहम भूमिका थी। अभी तक लाभकारी मूल्य की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। लाभकारी मूल्य की व्यवस्था की शुरुआत होती है 1966-67 में। इसके ज़रिये धनी किसानों और कुलकों के नये उभरते वर्ग को भौतिक प्रोत्साहन दिया जाता है। उस समय एक दौर में यह भौतिक प्रोत्साहन खेती में पूँजीवादी विकास और

(पेज 11 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

(पेज 10 से आगे)

पूँजीपति वर्ग के लिए ज़रूरी था। लेकिन हर ऐसे कदम की अपनी स्वतंत्र गति बन जाती है। 1970 के दशक में ही धनी किसानों व कुलकों के वर्ग की बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता राजनीतिक जगत में उनकी बढ़ती दख़ल के रूप में अभिव्यक्त होना शुरू हो चुकी थी। चौधरी चरण सिंह, देवीलाल और शरद जोशी जैसे नेता उभर रहे थे और राष्ट्रीय पैमाने पर पूँजीवादी राजनीति में उनकी आहट महसूस की जा रही थी। 1980 का दशक आते-आते यह ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग (धनी पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी फ़ार्मर, पूँजीवादी काश्तकार, कुलक) पूँजीपति वर्ग का एक शक्तिशाली धड़ा बन चुका था। निश्चित तौर पर, यह औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग की बराबरी नहीं कर सकता था, लेकिन यह इतना शक्तिशाली हो चुका था कि देशव्यापी पैमाने पर कुल विनियोजित अधिशेष में अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाने के लिए सौदेबाज़ी और राजनीतिक दबाव पैदा कर सके। इस खेतिहर बुर्जुआ वर्ग के पास यह क्षमता इसलिए भी मौजूद थी क्योंकि यह एक मज़बूत वोट बैंक था। वजह यह थी कि गाँवों में ग़रीब और निम्न-मँझोले किसान भी इन धनी किसानों-कुलकों का ही अनुसरण करते थे और आज भी उनका अच्छा-ख़ासा हिस्सा ऐसा करता है। इसकी कई वजहें हैं, जिन पर हम पहले लिख चुके हैं।

ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग की बढ़ती आर्थिक व राजनीतिक शक्तिमत्ता के साथ 1980 के दशक से एक प्रक्रिया शुरू हुई। कृषि सब्सिडी का बड़ा हिस्सा जो कि अब तक नीतिगत तौर पर कृषि में आधारभूत ढाँचे, मसलन नहरों आदि के नेटवर्क के निर्माण पर ख़र्च किया जाता था, वह लाभकारी मूल्य सुनिश्चित करने पर ख़र्च किया जाने लगा। 1992 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के व्यवस्थित ध्वंस की शुरुआत की गयी। पहले सार्वभौमिक पीडीएस को बदलकर 'परिवर्तित पीडीएस' (आरपीडीएस) बनाया गया, जिसका लक्ष्य था कुछ विशेष इलाक़ों में सार्वजनिक वितरण करना, जैसे दूर-दराज़ के पहाड़ी इलाक़े, ग्रामीण पिछड़े इलाक़े, इत्यादि। 1997 में ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम अपनाये जाने के बाद इस आरपीडीएस को लक्षित पीडीएस में बदल दिया गया जिसके अनुसार ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वालों के लिए सार्वजनिक वितरण को पीडीएस का लक्ष्य बना दिया गया। ग़रीबी को परिभाषित करने की एक पूरी नयी राजनीति की भी शुरुआत हुई। तब से पीडीएस को हर नयी सरकार निष्प्रभावी बनाने के एजेण्डा पर लगातार काम कर रही है, चाहे वह वाजपेयी सरकार रही हो, मनमोहन सिंह सरकार के दो कार्यकाल और विशेष तौर पर दूसरा कार्यकाल रहा हो, या फिर मोदी सरकार का कार्यकाल हो। लेकिन लाभकारी मूल्य में इनमें से ज़्यादातर सरकारों के कार्यकाल में निरन्तर कभी धीमी तो कभी तेज़ बढ़ोत्तरी होती रही है। मोदी सरकार ने भी 2019 तक लाभकारी मूल्य में लगातार बढ़ोत्तरी की थी। यदि लाभकारी मूल्य का सार्वजनिक वितरण प्रणाली से कोई सम्बन्ध होता तो इस पूरे दौर में सार्वजनिक वितरण प्रणाली मज़बूत हुई होती, न कि कमज़ोर।

वास्तव में, पीडीएस लाभकारी मूल्य की व्यवस्था से पहले से मौजूद थी और उसके बाद भी मौजूद रह सकती है। पीडीएस को सरकार अलग कारणों से ख़त्म और निष्प्रभावी बना रही है क्योंकि इससे मज़दूर वर्ग की मोलभाव की क्षमता कम होगी और संकटकाल में पूँजीपति वर्ग को मदद मिलेगी। लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को पूँजीपति वर्ग अलग वजहों से ख़त्म करना चाहता है, क्योंकि यह औसत मज़दूरी बढ़ाने का दबाव पैदा करता है और लम्बी अवधि में मुनाफ़े की दर में गिरावट का कारण बन सकता है। लेकिन यह भी सच है कि लाभकारी मूल्य का मज़दूर वर्ग और ग़रीब व निम्न-मँझोले किसान वर्ग को भी नुक़सान होता है। **अगर लाभकारी मूल्य की वजह से सार्वजनिक वितरण प्रणाली मज़बूत होती तो उसे 1992 से लेकर 2019 के बीच मज़बूत होते जाना चाहिए था, लेकिन यही वह दौर है जब एमएसपी बढ़ता रहा है और पीडीएस तबाह होता रहा है।**

तीसरी बात, सरकारी ख़रीद के लिए लाभकारी मूल्य की व्यवस्था कोई पूर्वशर्त नहीं है। दुनिया के लगभग हर पूँजीवादी देश में किसी न किसी प्रकार की फ़ूड राशनिंग या पीडीएस की प्रणाली है, चाहे वह सार्वभौमिक हो या लक्षित। लेकिन इनमें से अधिकांश देशों में एमएसपी की कोई व्यवस्था नहीं है। सरकार अपने खाद्य रिज़र्व के लिए या तो बोली लगाने जैसी कोई प्रक्रिया करती है, या बाज़ार से ख़रीद करती है।

अब भारत के ठोस उदाहरण से भी इसे समझ लेते हैं।

बिहार में 2006 में एमएसपी की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। अगर सरकारी ख़रीद की पूर्वशर्त एमएसपी है, तो बिहार में सरकारी ख़रीद को और कम हो जाना चाहिए था। लेकिन क्या वाकई ऐसा हुआ है? नहीं! उल्टे यदि दर की बात करें तो बिहार में खाद्यान्न की सरकारी ख़रीद पंजाब और हरियाणा से कहीं तेज़ गति से बढ़ी है। 2005 से 2015 के बीच बिहार में गेहूँ की सरकारी ख़रीद 0.7 प्रतिशत से बढ़कर 11.28 प्रतिशत हो गयी, जबकि इसी दौर में पंजाब में गेहूँ की ख़रीद 66.79 प्रतिशत से कम होकर 63.84 प्रतिशत पर और हरियाणा में 62.58 प्रतिशत से घटकर 58.38 प्रतिशत पर आ गयी। इसी दौर में बिहार में धान की सरकारी ख़रीद 1.7 प्रतिशत से बढ़कर 21.4 प्रतिशत हो गयी, जबकि पंजाब में धान की सरकारी ख़रीद 82.7 प्रतिशत से 76.1 प्रतिशत रह गयी। निश्चित तौर पर, अभी भी सरकारी ख़रीद निरपेक्ष तौर पर पंजाब और हरियाणा में अन्य किसी भी राज्य से कहीं ज़्यादा है और उसके ठोस राजनीतिक कारण और कुछ आर्थिक कारण भी हैं। लेकिन **यदि एमएसपी ख़त्म होने से सरकारी ख़रीद का कोई कारणात्मक रिश्ता होता तो बिहार में सरकारी ख़रीद घटनी चाहिए थी और पंजाब व हरियाणा में बढ़नी चाहिए थी। लेकिन तथ्य कुछ और दिखला रहे हैं।**

स्पष्ट है कि सरकारी ख़रीद और पीडीएस का एमएसपी से कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। यह कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास वे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कर रहे हैं, जो जानते हैं कि एमएसपी की माँग ग़रीब-विरोधी माँग है लेकिन वे मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन का आलोचनात्मक विश्लेषण करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं, या फिर धूर्त किस्म के क़ौमवादी "मार्क्सवादी" कर रहे हैं, जिन्हें मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी नहीं आता और अब वे पंजाब में उन्हीं नवनरोदवादियों व क़ौमवादियों की गोद में बैठने को तैयार हैं, जिनका पिछले 15 वर्षों से वे विरोध करते आ रहे थे। उनके आश्चर्यजनक यू-टर्न के सदमे से इन अनपढ़ क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" के कार्यकर्तागण ही अभी ठीक से नहीं उबर पाये हैं।

अब ज़रा इस तर्क को देखें कि लाभकारी मूल्य से खाद्यान्न की क़ीमतें नीचे और स्थिर रहती हैं। यह तर्क भी हमारे क़ौमवादी अनपढ़ "मार्क्सवादी" आजकल काफ़ी दे रहे हैं। यह भी तथ्यत: ग़लत है। सच यह है कि लाभकारी मूल्य के कारण खाद्यान्न की क़ीमतों पर एक बेहद ऊँचा फ़्लोर लेवल तय हो जाता है, जिस पर वे अपेक्षाकृत रूप से स्थिर रहती हैं, इस रूप में कि क़ीमतें उस फ़्लोर लेवल से नीचे आ ही नहीं सकती हैं। ये अनपढ़ "मार्क्सवादी" कहते हैं कि आलू-प्याज़ पर भी लाभकारी मूल्य मिलना चाहिए और फिर उनकी क़ीमतें स्थिर हो जायेंगी। बिल्कुल! लेकिन बेहद ऊँचे स्तर पर जिससे नीचे वे आ ही नहीं पायेंगी। अभी निश्चित तौर पर आलू, प्याज़ आदि की जमाख़ोरी और सट्टेबाज़ी के कारण बीच-बीच में उनकी क़ीमतें ज़्यादा बढ़ती हैं, लेकिन उसकी वजह एमएसपी की ग़ैर-मौजूदगी नहीं है। अगर ऐसा होता तो चावल और गेहूँ की क़ीमतें व्यापक जनता के लिए बिहार में पंजाब के मुक़ाबले ज़्यादा होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है।

बिहार में सितम्बर 2017 में चावल की क़ीमत 10.460 रु/

(पेज 12 पर जारी)

बोलते आँकड़े चीख़ती सच्चाइयाँ

- कृषि में पूँजीवादी विकास के साथ ही किसान आबादी के बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया चलती रही है। धनी किसानों-कुलकों-फ़ार्मरों की एक छोटी-सी आबादी अमीर हुई है और उसके पास ज़मीन बढ़ती गयी है जबकि अपनी ज़मीन से उजड़कर मज़दूर बनने वाले किसानों की संख्या लगातार बढ़ती गयी है। हरित क्रान्ति के बाद यह सिलसिला तेज़ हुआ और पिछले पाँच दशकों से लगातार जारी है।
- 2011 में भारत की खेती में लगी आबादी में से 14.5 करोड़ खेतिहर मज़दूर थे, जबकि किसानों की संख्या 11.8 करोड़ रह गयी थी। पिछले 10 वर्षों में यदि किसानों के मज़दूर बनने की की दर वही रही हो, जो कि 2000 से 2010 के बीच रही थी, तो माना जा सकता है कि खेतिहर मज़दूरों की संख्या 15 करोड़ से ऊपर जा चुकी होगी, जबकि किसानों की संख्या 11 करोड़ से नीचे।
- कारपोरेट पूंजी के प्रवेश से पहले 1971 से 1980 के बीच 2 करोड़ किसान सर्वहारा की तादाद में शामिल हुए। यही प्रक्रिया आजतक जारी है। इस बर्बादी के पीछे कॉरपोरेट पूंजी नहीं थी बल्कि आढ़तियों-सूदख़ोरों-कुलकों की मुनाफ़ाख़ोरी, सूदख़ोरी और लगानख़ोरी थी। यदि धनी किसानों की जगह कॉरपोरेट पूँजी का वर्चस्व होगा तो भी ग़रीब किसानों की सर्वहारा वर्ग में शामिल होने की प्रक्रिया जारी रहेगी।
- वर्ष 2013 में जनगणना की रिपोर्ट के आधार पर जारी डेटा के मुताबिक पिछले एक दशक के दौरान किसानों की संख्या में 86 लाख की कमी आयी। इसी डेटा के अनुसार पिछले 10 वर्षों में खेतिहर मज़दूरों की संख्या में 3 करोड़ 70 लाख की बढ़ोत्तरी हुई।
- वर्ष 2014 में समाज विकास अध्ययन केन्द्र (सीएसडीएस) की ओर से देश के 18 राज्यों में 5000 किसान परिवारों के बीच किये गये एक व्यापक अध्ययन में पाया गया कि 76 प्रतिशत किसान खेती छोड़कर कोई दूसरा काम करना चाहते हैं। बड़ी संख्या में किसानों ने आढ़तियों और धनी किसानों से लिये क़र्ज़ों के बोझ को इसके लिए ज़िम्मेदार बताया।
- करीब 92 प्रतिशत किसानों की आय का 50 प्रतिशत से भी ज़्यादा अब मज़दूरी से आता है, न कि खेती से।
- नाबार्ड के अनुसार देश के 87 प्रतिशत किसानों के पास 2 हेक्टेयर (करीब 5 एकड़) से भी कम ज़मीन है। 37 प्रतिशत किसान परिवारों के पास 0.4 हेक्टेयर से भी कम ज़मीन है और 30 प्रतिशत के पास 0.41 से 1 हेक्टेयर के बीच ज़मीन है। सिर्फ़ 13 प्रतिशत किसान परिवारों के पास 2 हेक्टेयर से अधिक ज़मीन है।

इनमें से भी केवल 6 प्रतिशत को लाभकारी मूल्य यानी एमएसपी का फ़ायदा मिलता है। यह प्रतिशत अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। पंजाब और हरियाणा में और एक हद तक मध्यप्रदेश में यह प्रतिशत ज़्यादा है। लेकिन पंजाब में भी एक-तिहाई किसानों के पास 2 हेक्टेयर से कम ही ज़मीनें हैं।

- एमएसपी पर होने वाली कुल ख़रीद का करीब 70 फ़ीसदी पंजाब और हरियाणा में ही होता है।

शहरी और खेतिहर मज़दूर मिलाकर मज़दूर आबादी करीब 57 से 59 करोड़ बैठती है; ग़रीब किसान करीब 10 करोड़ के आस-पास हैं। इसकी तुलना में धनी और उच्च मध्यम किसान आबादी मुश्किल से 3 से 4 करोड़ है। फिर भी उनके आन्दोलन को नेताओं से लेकर समाज के तमाम मानिन्द लोगों का जैसा समर्थन मिला है, वैसा आज तक मज़दूरों के किसी भी आन्दोलन को नहीं मिला, यह सोचने का विषय है।

- वर्ष 2001 से 2011 के बीच, खेतिहर मज़दूरों की संख्या में हरियाणा में 50 प्रतिशत, आन्ध्र प्रदेश में 48 प्रतिशत और कर्नाटक में 53 प्रतिशत की वृद्धि हुई और लगभग इसी दर से किसानों की संख्या में गिरावट आयी, जबकि इन राज्यों में अच्छी या ठीकठाक एपीएमसी मण्डी प्रणाली है। इसी बीच पश्चिम बंगाल में किसानों के मज़दूर बनने की दर सिर्फ़ 31 प्रतिशत थी, जबकि इस राज्य में ठेका खेती का काफ़ी विकास हुआ है। इसी दौरान, बिहार में खेतिहर मज़दूरों की संख्या 49.27 लाख बढ़ कर 1.83 करोड़ हो गयी जोकि हरियाणा में खेतिहर मजदूरों की वृद्धि दर से काफ़ी धीमी रही।
- 2001 और 2011 के बीच बिहार में किसानी छोड़ने वालों की दर 12.17 प्रतिशत थी, जबकि हरियाणा में इसी दौरान यह दर 17.80 प्रतिशत थी। ज़ाहिर है कि ये छोटे और ग़रीब किसान ही हैं जो उजड़े और मज़दूर बने हैं।

मौजूदा किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल

(पेज 11 से आगे)

किलो थी। जून 2014 में यह क़ीमत सर्वाधिक ऊपर 17.620 रु/किलो थी और वहीं जनवरी 1996 में यह सर्वाधिक नीचे 7.4 रु/किलो थी। नवम्बर 1995 से सितम्बर 2017 के दौरान बिहार में खेतिहर मज़दूरों के लिए चावल की औसत उपभोक्ता क़ीमत 10.455 रु/किलो रही। पंजाब में सितम्बर 2017 में चावल की क़ीमत 32.38 रु/किलो रही है। जून 2017 में यह क़ीमत सर्वाधिक ऊपर 32.42 रु/किलो थी और नवम्बर 1995 में यह सर्वाधिक नीचे 8.39 रु/किलो थी। नवम्बर 1995 से सितम्बर 2017 के दौरान पंजाब में खेतिहर मज़दूरों के लिए चावल की औसत उपभोक्ता क़ीमत 14.02 रु/किलो रही। अब खेतिहर मज़दूरों के लिए आटे की उपभोक्ता क़ीमतों के आँकड़े देख लेते हैं।

बिहार में सितम्बर 2017 में आटे की क़ीमत 20.04 रु/किलो थी। जनवरी 2017 में यह क़ीमत सर्वाधिक ऊपर 21.7 रु/किलो थी और वहीं मई 1996 में यह सर्वाधिक नीचे 5.75 रु/किलो थी। नवम्बर 1995 से सितम्बर 2017 के दौरान बिहार में खेतिहर मज़दूरों के लिए आटे की औसत उपभोक्ता क़ीमत 12.335 रु/किलो रही। वहीं पंजाब में सितम्बर 2017 में आटे की क़ीमत 21.95 रु/किलो रही है। जनवरी 2017 में यह क़ीमत सर्वाधिक ऊपर 23.62 रु/किलो थी और मई 1996 में यह सर्वाधिक नीचे 4.98 रु/किलो थी। नवम्बर 1995 से सितम्बर 2017 के दौरान पंजाब में खेतिहर मज़दूरों के लिए आटे की औसत उपभोक्ता क़ीमत 11.31 रु/किलो रही। नवीनतम बाज़ार क़ीमतों को देखें तो स्पष्ट है कि एपीएमसी मण्डी ख़त्म होने के बावजूद बिहार में आटे की बाज़ार क़ीमत पंजाब के मुक़ाबले कम है।

हम देख सकते हैं कि रिश्ता क़ीमतों को नीचे रखने से एमएसपी की व्यवस्था का कोई सीधा नहीं है। उल्टे यदि कोई रिश्ता है, तो वह यह हैं कि एमएसपी अधिक होने से व्यापक ग़रीब मेहनतकश आबादी, जिसमें कि ग़रीब किसान भी शामिल हैं, के लिए खाने-पीने की चीज़ें और उनके नियमित आहार जैसे कि चावल व गेहूँ महँगे हो जाते हैं।

इसके अलावा, महँगाई को बढ़ाने वाले अन्य कारक भी होते हैं। मिसाल के लिए जमाख़ोरी के ज़रिये भी बाज़ार क़ीमतों को प्रभावित किया जाता है। विशेषकर सब्ज़ियों व फलों जैसे अपेक्षाकृत जल्दी नष्ट होने वाले कृषि उत्पाद, जिनका भण्डारण महँगा पड़ता है, उनकी जमाख़ोरी बड़े व्यापारियों द्वारा की जाती है और इस वजह से भी इनकी क़ीमतें काफ़ी अस्थिर रहती हैं। एमएसपी की व्यवस्था से बस यह होता है कि उन कृषि उत्पादों की क़ीमतें कमोबेश स्थिर होती हैं, जिनपर आम तौर पर यह मिलता है, लेकिन यह क़ीमतें कृत्रिम रूप से काफ़ी ऊँचे स्तर पर स्थिर रहती हैं। इसके अलावा दलहन की ख़रीद भी एमएसपी पर होती है लेकिन पिछले 14-15 वर्षों में इनकी बाज़ार क़ीमतों में भी काफ़ी अस्थिरता देखी गयी है।

इसके अलावा, गेहूँ व धान के लाखों टन का रिज़र्व स्टॉक होने के बावजूद सरकार उसे सड़ा देना या कम्पनियों को बेच देना पसन्द करती है, क्योंकि लाभकारी मूल्य पर होने वाली ख़रीद के बाद उसे इस ख़र्च की पूर्ति भी करनी होती है। यही वजह है कि खाद्यान्न के भारी रिज़र्व के बावजूद भारत में खाद्य असुरक्षा दुनिया के बेहद ग़रीब देशों से भी ज़्यादा है। इसकी एक वजह ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग को एमएसपी के रूप में दी जा रही कृत्रिम रूप से ऊँची मुनाफ़ा दर भी है। एमएसपी व्यापक लागत के ऊपर दी जाने वाली 40 से 50 प्रतिशत की शुद्ध मुनाफ़ा दर सुनिश्चित करती है। कृषि क्षेत्र में न सिर्फ़ उसमें पैदा होने वाला कुल मूल्य रुकता है, बल्कि एमएसपी के कारण अन्य क्षेत्रों से मूल्य खेतिहर बुर्जुआ वर्ग को स्थानान्तरित होता है। यही वजह है कि एमएसपी के कारण खेती उत्पादों की क़ीमतें कृत्रिम रूप से ऊँचे स्तर पर फ़िक्स हो जाती हैं।

लुब्बेलुआब यह कि **एमएसपी के कारण खाद्यान्न सुरक्षा नहीं बढ़ती, बल्कि खाद्यान्न असुरक्षा बढ़ती है, ग़रीबों के लिए खाद्यान्न की क़ीमतें बढ़ती हैं, और उनका जीवन स्तर नीचे जाता है क्योंकि उनकी आमदनी का बड़ा हिस्सा भोजन पर ख़र्च हो जाता है।**

अब आख़िरी (कु)तर्क पर आते हैं। **कुछ लोगों का कहना है कि लाभकारी मूल्य के कारण उत्पादकता बढ़ती है। यह तर्क भी किसी तथ्य पर आधारित नहीं है बल्कि लाभकारी मूल्य की माँग का समर्थन करके धनी किसानों-कुलकों की गोद में बैठने की आतुरता से पैदा हुआ तर्क है।** हम फिर से उन दो राज्यों की तुलना करते हैं जहाँ लाभकारी मूल्य की सबसे सुचारु व्यवस्था है और जहाँ लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त हो चुकी है। 2004 से 2015 के बीच पंजाब में खेती के क्षेत्र की कुल वृद्धि दर रही 1.61 प्रतिशत जबकि इसी दौर में बिहार में खेती के क्षेत्र की कुल वृद्धि दर रही 4.7 प्रतिशत। यानी तीन गुना ज़्यादा वृद्धि दर। यही दौर है जबकि बिहार में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त होने के असर स्पष्ट तौर पर दिखायी देने लगे थे। यह सच है कि निरपेक्ष अर्थों में अभी भी बिहार में खेती में उत्पादकता पंजाब और हरियाणा के मुक़ाबले बहुत पीछे है लेकिन दरों की तुलना किसी भी दिये गये दौर में ही हो सकती है और वही रुझान की सही तस्वीर बता सकता है। बहुत-से लोग अवसरवादी तरीक़े से बिहार के आर्थिक पिछड़ेपन के पूरे इतिहास पर मिट्टी डालकर कह रहे हैं कि ऐसा इसीलिए है क्योंकि वहाँ एमएसपी की व्यवस्था ख़त्म हो गयी! एमएसपी की व्यवस्था तो 2006 में ख़त्म हुई है, उसके पहले क्या बिहार में खेती की विकास दर की कोई तुलना पंजाब या हरियाणा से हो सकती थी? सच यह है कि बिहार में खेती और आम तौर पर अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन के दीर्घकालिक ऐतिहासिक कारण हैं। इन सारे कारणों के विश्लेषण व व्याख्या के बजाय सारे मामले को महज़ लाभकारी मूल्य का मामला बना देना या तो बौद्धिक बेईमानी से पैदा हो सकता है, या फिर मूर्खता के कारण। एक दौर में पूँजीवादी धनी फ़ार्मरों के वर्ग को भौतिक प्रोत्साहन के तौर पर लाभकारी मूल्य देना और उत्पादकता बढ़ाने के लिए, मशीनीकरण के लिए और पूँजी-सघन खेती के लिए प्रेरित करने की पूँजीवादी अर्थों में एक भूमिका और प्रासंगिकता थी। यह प्रासंगिकता 1970 के दशक के अन्त से पहले से समाप्त हो चुकी थी। आज ऐसे तर्क का कोई तथ्यात्मक आधार नहीं है कि लाभकारी मूल्य से ही उत्पादकता बढ़ेगी, जैसा कि बिहार का उदाहरण साफ़ तौर पर दिखलाता है। उत्पादकता बढ़ने के लिए पूँजीवादी विकास होना आवश्यक है और यह पूँजीवादी विकास लाभकारी मूल्य के बिना भी हो सकता है और हुआ भी है। उल्टे **आज लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पूँजीवादी विकास को ही बाधित कर रही है, ताकि देश की कुल आबादी में डेढ़-दो करोड़ धनी व उच्च मध्यम किसानों को कृत्रिम रूप से ऊँची लाभ दर मुहैया करायी जा सके।**

इसलिए **ये तीनों ही दावे, कि एमएसपी के बिना पीडीएस नहीं बचेगा, एमएसपी के बिना खाद्यान्नों की क़ीमतें ऊँची हो जायेंगी, और एमएसपी के बिना उत्पादकता नहीं बढ़ेगी, तथ्यों के सामने ढेर हो जाते हैं।** वास्तव में, ये धनी किसानों-कुलकों की एक ग़रीब-विरोधी माँग, यानी लाभकारी मूल्य की माँग, के लिए हो रहे आन्दोलन के नेतृत्व की गोद में बैठने, या उस शामिल-बाजे में शामिल होने के लिए उन कम्युनिस्टों द्वारा और क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" द्वारा गढ़े जा रहे कुतर्क हैं, जो साहस के साथ एक सर्वहारा वर्गीय अवस्थिति नहीं अपना पा रहे हैं और जो अन्दर-ही-अन्दर जानते हैं कि यह माँग व्यापक ग़रीब मेहनतकश आबादी के खिलाफ़ जाती है। फिर वे इसका समर्थन कैसे करें? इसी के लिए ये सारे कुतर्क गढ़े जा रहे हैं।

8. निष्कर्ष

हमने इस आन्दोलन की प्रमुख माँगों और उसके वर्ग चरित्र का विश्लेषण यहाँ पर किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम प्रदर्शन, विरोध और आन्दोलन करने के उनके जनवादी अधिकार पर राज्य के हमले को सही मानते हैं। **हमारा स्पष्ट मानना है कि राजकीय दमन का हर सूरत में विरोध किया जाना चाहिए, सिवाय एक अपवाद के। जब राजकीय दमन अपवादस्वरूप फ़ासीवादियों और धुर दक्षिणपंथी या धार्मिक कट्टरपंथी ताक़तों के ख़िलाफ़ हो। लेकिन भारत में यह अपवाद घटित ही कम होता है! इसके अतिरिक्त, अगर किसी ग़ैर-फ़ासीवादी बुर्जुआ पार्टी के भी जनवादी हक़ों पर हमला होता है तो हम उसका बिना शर्त विरोध करते हैं, चाहे हम उसकी माँगों, चार्टर और पूरी राजनीति से असहमत ही क्यों न हों। इसलिए जब भी मौजूदा आन्दोलन के दौरान किसानों पर वॉटर कैनन से हमला किया गया, या बैरीकेड्स लगाये गये या आँसू गैस के गोले फेंके गये तो हमने उसका विरोध किया और आगे भी करेंगे।**

मौजूदा आन्दोलन में करीब 57 किसान ठण्ड में मर भी चुके हैं। निश्चित तौर पर, एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी के लिए यह अफ़सोस की बात है क्योंकि हम मानवीय जीवन की क़ीमत को समझते हैं। लेकिन आन्दोलन के चार्टर और राजनीति से सहमत होना एक अलग सवाल है, जिस पर भावुकतावादी तरीके से कोई नज़रिया नहीं अपनाया जा सकता है।

लेकिन जो बात राजनीतिक निचोड़ के तौर पर निकलती है वह यह है: **मौजूदा किसान आन्दोलन पहले दो क़ानूनों पर केन्द्रित है, जोकि एमएसपी पर हमला कर रहे हैं। निश्चित तौर पर, आन्दोलन का नेतृत्व तीनों क़ानूनों को वापस लेने की माँग कर रहा है और सिर्फ़ दो क़ानूनों का विरोध सम्भव ही नहीं था क्योंकि शासक वर्ग के किसी भी धड़े का आन्दोलन और उसकी राजनीति हमेशा एक विचारधारात्मक चरित्र रखती है। तीसरे क़ानून का विरोध मौजूदा धनी किसान आन्दोलन के विचारधारात्मक पैकेज का हिस्सा है। लेकिन यदि सरकार सिर्फ़ तीसरा क़ानून लाती तो आप यक़ीन मान सकते हैं कि धनी किसान उसके ख़िलाफ़ कोई आन्दोलन नहीं कर रहे होते। उनके आन्दोलन का मूल और मुख्य मुद्दा ही एमएसपी है।** तीसरा क़ानून वास्तव में बिचौलियों, आढ़तियों और व्यापारियों को फ़ायदा पहुँचाता है और तमाम प्रकार के बिचौलियों के मंच पहले भी माँग करते रहे हैं कि आवश्यक वस्तुओं की स्टॉकिंग पर से सीमा हटा दी जाये। लुब्बेलुआब पूरा मसला ही लाभकारी मूल्य को बचाने का है, चाहे कोई कितना भी इंकार करे।

तीसरी बात, **लाभकारी मूल्य की माँग सीधे-सीधे एक ग़रीब-विरोधी माँग है और विशेष तौर पर धनी किसानों-कुलकों के वर्ग की सेवा करती है और उन्हीं के वर्ग की माँग है। इससे समूचे मज़दूर वर्ग और ग़रीब और निम्न-मँझोले किसान वर्ग को नुक़सान होता है क्योंकि इससे खाद्यान्नों की क़ीमतें बढ़ती हैं।**

चौथी बात, **एमएसपी को बचाने को सार्वजनिक वितरण प्रणाली और सरकारी ख़रीद को बचाने से जोड़ने की बात तर्क और तथ्य, दोनों के नज़रिए से बकवास और मूर्खतापूर्ण है।**

पाँचवी बात, **मौजूदा धनी किसान आन्दोलन कोई फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन नहीं है, हालाँकि वह मोदी सरकार के लिए तात्कालिक तौर पर एक चुनौती बना हुआ है। लेकिन इसकी वजह भी यह है कि यह शासक वर्ग के ही सामाजिक और राजनीतिक रूप से शक्तिशाली धड़े, यानी धनी किसानों-कुलकों का आन्दोलन है।**

छठी बात, **देश की ग्रामीण आबादी की वर्गीय संरचना को समझना, उसके अलग-अलग वर्गों को समझना, उनके अलग-अलग हितों को समझना और उसके आधार पर समूची वर्गीय स्थिति को समझना हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए अनिवार्य है। इसके बिना हम अपनी वर्ग अवस्थिति को सही तरीके से संघटित नहीं कर सकते और अपने रणनीतिक मोर्चों (दीर्घकालिक उद्देश्यों के मद्देनज़र) और उसके ही मातहत आम रणकौशलात्मक मोर्चों (दीर्घकालिक उद्देश्यों के ही मातहत तात्कालिक लक्ष्यों के मद्देनज़र) को भी सही तरह से नहीं समझ सकते हैं।**

आख़िरी बात, **उपरोक्त सवालों की सही समझदारी आज विशेष तौर पर बेहद ज़रूरी है क्योंकि मज़दूर वर्ग के हिरावल होने का दावा करने वाले तमाम कम्युनिस्ट संगठन ही वक्त की आँधी में बहते हुए धनी किसानों-कुलकों की माँगों का समर्थन कर रहे हैं और ऐसा न करने को अम्बानी-अडानी जैसे बड़े पूँजीपतियों का समर्थन मान रहे हैं। उनके दिमाग़ में एक बार भी यह सवाल नहीं खड़ा होता कि बड़े पूँजीपतियों से अपेक्षाकृत छोटे पूँजीपतियों को बचाना सर्वहारा वर्ग का कार्यभार कबसे हो गया? छोटे पूँजीपतियों के लिए सरकारी संरक्षण को बचाना सर्वहारा वर्ग का कार्यभार कबसे हो गया? मूल बात यह है कि हमारे ये बन्धु समय के प्रवाह में बहकर वर्ग विश्लेषण भूल गये हैं।**

मेहनतकशों की ख़ुशहाली के लिए आपदाओं की जड़ पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने का संकल्प लेना होगा

(पेज 1 से आगे)

चुनावों में फ़ासिस्टों को मुँह की खानी पड़ी। शाहीन बाग़ से शुरू हुई बग़ावत की आग पूरे देश में फैलती देखकर बौखलाहट में आये संघियों ने राजधानी दिल्ली को साम्प्रदायिक दंगों की आग में झोंकने की साज़िश रची और उन दंगों के लिए मुस्लिमों को ही ज़िम्मेदार ठहरा दिया। इस समय तक कोरोना ने वैश्विक महामारी का रूप अख़्तियार कर लिया था और भारत में भी कोरोना के मामले आने शुरू हो चुके थे, लेकिन मोदी सरकार इस आने वाली भीषण आपदा के संकेतों को नज़रअन्दाज़ करते हुए अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प के स्वागत के लिए लाल कालीनें बिछाने में मसरूफ़ थी। मार्च के महीने में जब कोरोना के केस तेज़ी से बढ़ने लगे और हालात बेक़ाबू होते दिखने लगे तो प्रधानमंत्री ने बिना कोई योजना बनाये 130 करोड़ की आबादी वाले देश में महज़ 4 घण्टे की नोटिस पर पूर्ण लॉकडाउन लगाने जैसा तुगलक़ी फ़रमान लोगों को टेलीविज़न के ज़रिये सुनाया जिसके बाद पूरे देश में आपाधापी मच गयी।

यह पूर्वानुमान लगाने के लिए किसी प्रशासनिक अनुभव या अर्थव्यवस्था के ज्ञान की ज़रूरत नहीं थी कि ऐसे सिरफिरे फ़ैसले से देश के शहरों में रह रही करोड़ों प्रवासी मज़दूरों, ठेला-रेहड़ी-पटरी-गुमटी लगाने वालों, रिक्शा चलाने वाले और दिहाड़ी व ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों को भूखे मरने की नौबत आ जायेगी। लेकिन फ़ासिस्ट शासकों से इतनी बुनियादी समझ व संवेदनशीलता की उम्मीद करना भी बेमानी है। वे जनता को ताली-थाली बजवाने और मोमबत्ती–टॉर्च जलवाने में व्यस्त थे। फ़ासिस्ट हुक्मरानों की इस संवेदनशून्यता का नतीजा देश के इतिहास में विभाजन के बाद मज़दूरों के सबसे बड़े पलायन के रूप में सामने आया। पैर के छालों, कड़ी धूप और सैकड़ों किलोमीटर तक की दूरी की परवाह किये बग़ैर बच्चों के साथ और सिर पर बोझा लादे पैदल अपने गाँवों की तरफ़ निकल पड़े मज़दूरों की हृदय विदारक तस्वीरें कोई भी संवेदनशील व्यक्ति ताज़िन्दगी नहीं भूल सकता। पलायन की इस भीषण त्रासदी के दौरान कितने मज़दूर भूख-प्यास और दुर्घटनाओं की वजह से मारे गये इसका कोई डेटा सरकार ने जारी नहीं किया। इसका भी कोई डेटा नहीं है कि इस दौरान भूख और कुपोषण से कितने लोगों ने दम तोड़ा होगा या गम्भीर बीमारियों के शिकार हुए होंगे।

कोरोना महामारी ने दुनियाभर में पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था की पोल खोलकर रख दी है। इसने साबित कर दिया है कि स्वास्थ्य सुविधाओं के मामले में बढ़ती मुनाफ़ाख़ोरी का ख़ामियाज़ा समूची मानवता चुकाती है। पिछले कुछ दशकों के दौरान नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में दुनिया के तमाम हिस्सों में स्वास्थ्य सुविधाओं के निजीकरण की जो आँधी चलायी गयी उसका नतीजा यह हुआ कि जब कोरोना महामारी ने दस्तक दी तो तीसरी दुनिया की तो बात ही दूर, अमेरिका जैसे विकसित देश में टेस्टिंग किट, मास्क, सैनिटाइज़र, अस्पताल बेड, आईसीयू, वेण्टिलेटर आदि की भारी किल्लत हो गयी। वैक्सीन की ग़ैर-मौजूदगी में इस महामारी पर क़ाबू पाने का एक ही तरीक़ा था कि शुरू में ही आक्रामक रूप से टेस्टिंग करके संक्रमित व्यक्तियों को अलग-थलग किया जाता, लेकिन विकसित देशों में भी यह समय पर नहीं हो सका। ऐसे में यह ताज्जुब की बात नहीं है कि बहुत कम समय में यह बीमारी तेज़ी से दुनिया के कोने-कोने में फैल गयी। अस्पतालों में ओपीडी बन्द होने की वजह से अन्य गम्भीर बीमारियों के शिकार लोग तड़पते रहे और उनमें से तमाम लोगों ने दम तोड़ दिया।

अभी कोरोना त्रासदी की भयावह ख़बरें और मज़दूरों के पलायन की हृदय विदारक तस्वीरें हमारी आँखों ये ओझल नहीं हुई थीं, इसी बीच विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पहले से ही जारी संकट के गहराने की ख़बरें सुर्खियों में छाने लगीं। जिस प्रकार भारत में अनियोजित लॉकडाउन का सबसे भयावह नतीजा पलायन, भूख व कुपोषण के रूप में सामने आया उसी प्रकार इस लॉकडाउन की वजह से गहराई आर्थिक मन्दी का असर भी यहाँ दुनिया में सबसे ज़्यादा देखने में आया। साढ़े तीन साल पहले प्रधानमंत्री के सनक भरे नोटबन्दी के फ़ैसले से अर्थव्यवस्था का अनौपचारिक क्षेत्र तबाह हो गया था जो अभी पूरी तरह से उबरा भी न था कि उससे भी बड़ा झटका लग गया। इस दौरान लॉकडाउन की वजह से सकल घरेलू उत्पाद एक क्वार्टर में पिछले साल के मुक़ाबले 23 फ़ीसदी नीचे गिर गया। एक अनुमान के मुताबिक़ लॉकडाउन और उसकी वजह से गहराई मन्दी में क़रीब बीस करोड़ लोगों का रोज़गार छिन गया। यानी देश के कुल 60 करोड़ श्रमबल के एक-तिहाई लोगों को घर बैठना पड़ गया। इनमें से बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जिन्हें अभी तक काम नहीं मिल पाया है। जिन लोगों को काम मिला भी है उनकी आय अभी तक पहले जैसी नहीं हो पा रही है और बड़ी संख्या में लोग अभी भी काम की तलाश में दर-दर भटकने को मजबूर हैं। अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले 94 फ़ीसदी मज़दूरों के लिए यह संकट किसी भीषण आपदा से कम नहीं था। सबसे ज़्यादा दुर्गति महिला एवं दलित मज़दूरों की हुई। देश के कार्यबल में महिला मज़दूरों की भागीदारी की दर में गिरावट का सिलसिला पिछले साल भी जारी रहा।

मज़दूर वर्ग अभी कोरोना, लॉकडाउन और मन्दी का क़हर झेल ही ही रहा था, इसी बीच मोदी सरकार ने आपदा के दौर में भी अपने पूँजीवादी आक़ाओं को ख़ुश करने के लिए श्रम क़ानूनों पर निर्णायक हमला बोलते हुए 44 श्रम क़ानूनों को निरस्त कर 4 श्रम संहिताओं को लागू करने की योजना को अमली जामा पहनाया। इन श्रम संहिताओं के अमल में आने के बाद मज़दूरों के हड़ताल के अधिकार, न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, ओवरटाइम, पीएफ़, पेंशन, ईएसआई जैसे अधिकार ढीले कर दिये गये हैं और उन्हें मालिकों व नौकरशाहों के रहमोकरम पर छोड़ दिया गया है। सबसे बड़ी त्रासदी तो यह है कि मज़दूर आन्दोलन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन में पसरी मौक़ापरस्ती और बिखराव की वजह से मज़दूरों के अधिकारों पर इतने बड़े हमले के ख़िलाफ़ रस्मी प्रतिरोध से आगे बढ़कर कोई जुझारू प्रतिरोध नहीं खड़ा हो सका।

कोरोना काल में तथाकथित श्रम सुधारों से सम्बन्धित क़ानूनों को आनन-फ़ानन में संसद में पारित करवाने के अतिरिक्त मोदी सरकार ने कृषि सुधार के नाम पर पहले अध्यादेश के ज़रिये और बाद में संसद से क़ानून पारित करवाकर खेती-बाड़ी के क्षेत्र में भी कॉरपोरेट जगत के प्रवेश का रास्ता साफ़ कर दिया। निजी मण्डियों की मंज़ूरी मिलने के बाद एपीएमसी की मण्डियों और न्यूनतम समर्थन मूल्य पर आधारित कृषि अर्थव्यवस्था के भविष्य पर प्रश्नचिह्न लग गया जिसका सीधा नुक़सान पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी किसानों, कुलकों और आढ़तियों को होगा जिनको पुरानी व्यवस्था में सबसे ज़्यादा लाभ होता था। औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कृषि पूँजीपति वर्ग के बीच तीखे हुए इस अन्तरविरोध की अभिव्यक्ति मौजूदा किसान आन्दोलन के रूप में हुई जिसमें पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी किसान-कुलक-आढ़ती अपने हित को समूची किसान आबादी के हित के रूप में पेश कर रहे हैं। इसी वजह से इस आन्दोलन में छोटे-मँझोले किसानों की भी बड़ी तादाद देखने में आ रही है।

अन्तरराष्ट्रीय पटल पर बीते साल की प्रमुख घटनाएँ

अन्तरराष्ट्रीय पटल पर भी बीते साल कोरोना काल की त्रासदी छायी रही। अमेरिका, ब्रिटेन, इटली और स्पेन जैसे देशों में तो पिछले साल कई बार हालात बेक़ाबू होते नज़र आये जब कोरोना से होने वाली मौतों का तांता-सा लग गया। तमाम देशों में दोबारा लॉकडाउन लगाना पड़ा और अभी भी हालात क़ाबू में नहीं आ रहे हैं। इस महामारी के के दौर में भी अमेरिका व चीन के बीच अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा अपने नये कलेवर में और तीखी हुई। इस प्रतिस्पर्द्धा को बहुत-से पूँजीवादी विश्लेषक 'नया शीत युद्ध' की संज्ञा दे रहे हैं।

पिछले साल कोरोना को लेकर अमेरिका व चीन के बीच तनातनी का रिश्ता रहा। यहाँ तक कि अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने कोरोना को 'चीनी वायरस' कहकर पुकारा। अमेरिका ने 'टिक-टॉक' समेत कई चीनी मोबाइल ऐप पर प्रतिबन्ध लगा दिया और 5जी टेक्नोलॉजी सेवाएँ प्रदान करने वाली चीन की कम्पनी हुआवेई पर न सिर्फ़ अपने मुल्क़ में प्रतिबन्ध लगाया बल्कि यूरोपीय मुल्क़ों पर इस कम्पनी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए दबाव बनाया। ग़ौरतलब है कि चीन में गूगल व फ़ेसबुक जैसी सेवाएँ पहले से ही प्रतिबन्धित हैं। अमेरिका और चीन के बीच जारी यह 'प्रौद्योगिकी युद्ध' प्रौद्योगिकी के ज़रिये दुनिया के बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करने की अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का ही नतीजा है। दक्षिण चीन सागर में हालात तनावपूर्ण बने रहे और युद्ध के काले बादल छाये रहे। साल के अन्त में अमेरिका में राष्ट्रपति चुनावों में एक नाटकीय घटनाक्रम के बाद बड़ी मुश्किल से ट्रम्प सत्ता से बाहर गया। हालाँकि हमें इस मुग़ालते में नहीं रहना चाहिए कि बाइडेन के सत्ता में आने के बाद अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में कोई कमी आयेगी और दुनिया शान्ति की ओर अग्रसर होगी। नवनिर्वाचित राष्ट्रपति जो बाइडेन ने संकेत दे दिये हैं कि चीन के साथ होड़ बरक़रार रहेगी।

पिछले साल भारत के पड़ोसी देशों (ख़ासकर चीन व नेपाल) के साथ सम्बन्ध में तनाव बना रहा। चीन के साथ तनाव इतना अधिक बढ़ गया कि लद्दाख स्थित गलवान घाटी में चीन व भारत की सेनाओं के बीच झड़प की नौबत आ गयी। कुछ दिनों तक दोनों देशों के बीच युद्ध की आशंकाएँ बनी रहीं। भारत के पड़ोसी मुल्क़ नेपाल के साथ भी कालापनी, लिम्पियाधुरा और लिपुलेख को लेकर विवाद पिछले साल सुर्खियों में रहा जब भारत द्वारा इन विवादास्पद इलाक़ों तक जाने वाली सड़क के उद्घाटन के बाद नेपाल ने नक़्शे में शामिल दिखाया। नेपाल की अन्दरूनी राजनीति में भी पिछले साल राजनीतिक अस्थिरता बनी रही। सत्तारूढ़ नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी में ओली व प्रचण्ड धड़े के बीच सत्ता को लेकर खींचातानी बनी रही जिसकी परिणति साल के अन्त में प्रधानमंत्री ओली द्वारा संसद भंग करने के प्रस्ताव के रूप में सामने आयी जिसके बाद से नेपाल में राजनीतिक अनिश्चितता बनी हुई है।

अन्त में...

जहाँ एक ओर पिछला वर्ष मज़दूर वर्ग के लिए अकथनीय तकलीफ़ों से भरा रहा, वहीं दूसरी ओर शासकों की विलासिता और उनके षड्यंत्रों ने लोगों के ज़ख़्मों पर नमक डालने का काम किया। कोरोना महामारी के बीच ही ख़ुद को फ़कीर कहने वाले हमारे प्रधानसेवक ने साढ़े आठ हज़ार करोड़ के दो हवाई जहाज ख़रीदे और पचीस हज़ार करोड़ रुपये की लागत वाले निहायत ही ग़ैर-ज़रूरी सेण्ट्रल विस्टा प्रोजेक्ट का भूमि पूजन किया। कोरोना महामारी के बीच ही नरेन्द्र मोदी ने अयोध्या में राम मन्दिर निर्माण की भी आधारशिला रखी। पिछले साल हुए घटनाक्रम से यह सच्चाई भी उभरकर सामने आयी कि उत्तर प्रदेश इस समय संघ परिवार के फ़ासिस्ट हिन्दुत्व के प्रयोग की नयी प्रयोगशाला बन चुका है। हिन्दुत्व के इसी फ़ासिस्ट प्रयोग के तहत उत्तर प्रदेश में निरंकुश पुलिस राज्य की स्थापना हो रही है जिसकी अभिव्यक्ति फ़र्ज़ी एनकाउण्टरों, प्रदर्शनकारियों के साथ बर्बर सलूक़ और गेस्तापो सरीख़े विशेष सुरक्षा बल, तथाकथित लव-जिहाद को रोकने के लिए बने क़ानून के रूप में देखी जा सकती है। इसी प्रयोग का नतीजा उन्नाव व हाथरस जैसी स्त्री-विरोधी वीभत्स अपराधों और जातिगत गोलबन्दी के रूप में सामने आ रहा है। बिहार विधान सभा चुनाव के नतीजों से यह दिन के उजाले के तरह स्पष्ट हो गया कि अवसरवादी चुनावी गठबन्धन करके इस फ़ासीवादी दैत्य से जीतने के बारे में सोचना शेखचिल्ली के सपने जैसा है। सच तो यह है कि कोरोना काल में भी फ़ासिस्टों ने अपना सामाजिक आधार विस्तारित किया है और अब वे बंगाल, तेलंगाना, आन्ध्र व केरल जैसे राज्यों में भी अपने पैर फैला रहे हैं जहाँ ऐतिहासिक रूप से उनका आधार बहुत सीमित रहा है। इतिहास से सबक़ लेते हुए मेहनतकशों का जुझारू क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़ा करके ही हम फ़ासीवाद से भी मुक़ाबला कर सकते हैं और उसकी व तमाम आपदाओं की जड़ पूँजीवाद को भी उखाड़कर फेंक सकते हैं। नये साल व नये दशक में हमें ऐसे ही जुझारू क्रान्तिकारी आन्दोलन को खड़ा करने का संकल्प लेना चाहिए।

कॉमरेड : एक कहानी

मक्सिम गोर्की

इस शहर की प्रत्येक वस्तु बड़ी अद्‌भुत और बड़ी दुर्बोध थी। इसमें बने हुए बहुत-से गिरजाघरों के विभिन्न रंगों के गुम्बज आकाश की ओर सिर उठाये खड़े थे परन्तु कारख़ानों की दीवारें और चिमनियाँ इन घण्टाघरों से भी ऊँची थीं। गिरजे इन व्यापारिक इमारतों की ऊँची-ऊँची दीवारों से छिपे, पत्थर की उन निर्जीव चहारदीवारियों में इस प्रकार डूबे हुए थे जैसे मिट्टी और मलबे के ढेर में भद्दे, कुरूप फूल खिल रहे हों। और जब गिरजों के घण्टे प्रार्थना के लिए लोगों को बुलाते तो उनकी झनकारती हुई आवाज़ लोहे की छतों से टकराती और मकानों के बीच बनी लम्बी और सँकरी गलियों में खो जाती।

इमारतें विशाल और अपेक्षाकृत कम आकर्षक थीं परन्तु आदमी कुरूप थे। वे सदैव नीचतापूर्ण व्यवहार किया करते थे। सुबह से लेकर रात तक वे भूरे चूहों की तरह शहर की पतली टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में इधर-से-उधर भागा करते और अपनी उत्सुक तथा लालची आँखें फाड़े कुछ रोटी के लिए तथा कुछ मनोरंजन के लिए भटकते रहते। इतने पर भी कुछ लोग चौराहों पर खड़े हो, निर्बल मनुष्यों पर यह देखने के लिए द्वेषपूर्ण निगाहें जमाये रहते कि वे सबल व्यक्तियों के सामने नम्रतापूर्वक झुकते हैं या नहीं। सबल व्यक्ति धनवान थे और वहाँ के प्रत्येक प्राणी का यह विश्वास था कि केवल धन ही मनुष्य को शक्ति दे सकता है। वे सब अधिकार के भूखे थे, क्योंकि सब ग़ुलाम थे। धनवानों की विलासिता ग़रीबों के हृदय में द्वेष और घृणा उत्पन्न करती थीं। वहाँ किसी भी व्यक्ति के लिए सोने की झनकार से अधिक सुन्दर और मधुर दूसरा कोई भी संगीत नहीं था और इसी कारण वहाँ का हरेक आदमी दूसरे का दुश्मन बन गया था। सब पर क्रूरता का शासन था।

कभी-कभी सूर्य उस शहर पर चमकता परन्तु वहाँ का जीवन सदैव अन्धकारपूर्ण रहता और मनुष्य छाया की तरह दिखायी देते। रात होने पर वे असंख्य चमकीली बत्तियाँ जलाते परन्तु उस समय भूखी औरतें पैसों के लिए अपना कंकालवत शरीर बेचने को सड़कों पर निकल आतीं। विभिन्न प्रकार के सुगन्धित भोजनों की सुगन्ध उन्हें अपनी ओर खींचती और चारों ओर भूखे मानव की भूखी आँखें, चुपचाप चमकने लगतीं। नगर के ऊपर दुख और विषाद की एक धीमी कराहट, जो ज़ोर से चिल्लाने में असमर्थ थी, प्रतिध्वनित होकर मँडराने लगती।

जीवन नीरस और चिन्ताओं से भरा हुआ था। मानव एक-दूसरे का दुश्मन था और हर इन्सान ग़लत रास्ते पर चल रहा था। केवल कुछ व्यक्ति ही यह अनुभव करते थे कि वे ठीक मार्ग पर हैं परन्तु वे पशुओं की तरह रूखे और क्रूर थे। वे दूसरों से अधिक भयानक और कठोर थे...

हरेक जीना चाहता था परन्तु यह कोई नहीं जानता था कि कैसे जिये। कोई भी अपनी इच्छाओं का अनुसरण स्वतन्त्रा रूप से करने में समर्थ नहीं था। भविष्य की ओर बढ़ा हुआ प्रत्येक क़दम उन्हें पीछे मुड़कर उस वर्तमान की ओर देखने के लिए बाध्य कर देता था, जो एक लालची राक्षस के शक्तिशाली और क्रूर हाथों द्वारा मनुष्यों को अपने रास्ते पर आगे बढ़ने से रोक देता और अपने चिपचिपे आलिंगन के जाल में फाँस लेता।

मनुष्य जब ज़िन्दगी के चेहरे पर कुरूप दुर्भाग्य की रेखाएँ देखता तो कष्ट और आश्चर्य से विजड़ित हो निस्सहाय के समान ठिठक जाता, ज़िन्दगी उसके हृदय में अपनी हज़ारों उदास और असहाय आँखों से झाँकती, और निश्शब्द उससे प्रार्थना करती जिसे सुन भविष्य की सुन्दर आकांक्षाएँ उसकी आत्मा में मर जातीं और मनुष्य की नपुंसकता की कराहट, उन दुखी और दीन मनुष्यों की कराह और चीख़-पुकारों के लयहीन संगीत में डूब जाती जो ज़िन्दगी के शिकंजे में पड़े तड़फड़ा रहे थे।

वहाँ सदैव नीरसता और उद्विग्नता तथा कभी-कभी भय का वातावरण छाया रहता और वह अन्धकारपूर्ण अवसाद में लिपटा नगर अपने एक से विद्रोही पत्थरों के ढेर को लिए जो मन्दिरों को कलंकित कर रहे थे, मनुष्यों को एक कारागृह के समान घेरे तथा सूर्य की किरणों को ऊपर ही ऊपर लौटाते हुए, चुपचाप खड़ा था।

वहाँ जीवन के संगीत में क्रोध और दुख की चीख़, छिपी हुई घृणा की एक धीमी फुसकार, क्रूरता का भयभीत करने वाला कोलाहल और हिंसा की भयंकर पुकार भरी हुई थी।

2

दुख और दुर्भाग्य के अवसादपूर्ण कोलाहल के बीच लालच और इच्छाओं के दृढ़ बन्धन में जकड़े, दयनीय गर्व की कीचड़ में फँसे थोड़े-से एकाकी स्वप्नदृष्टा उन झोंपड़ियों की ओर चुपचाप, छिपकर चले जा रहे थे जहाँ वे निर्धन व्यक्ति रहते थे जिन्होंने नगर की समृद्धि को बढ़ाया था। तिरस्कृत और उपेक्षित होते हुए भी मानव में पूर्ण आस्था रखते हुए वे विद्रोह की शिक्षा देते थे। वे दूर प्रज्ज्वलित सत्य की विद्रोही चिनगारियों के समान थे। वे उन झोंपड़ियों में अपने साथ छिपाकर एक सादे परन्तु उच्च सिद्धान्त की शिक्षा के फल देने वाले बीज लाये थे और कभी अपनी आँखों में कठोरता की ठण्डी चमक भरकर और कभी सज्जनता और प्रेम द्वारा उन ग़ुलाम मनुष्यों के हृदय में इस प्रकाशवान प्रज्ज्वलित सत्य की जड़ रोपने का प्रयत्न करते, उन मनुष्यों के हृदय में, जिन्हें क्रूर और लालची व्यक्तियों ने अपने लाभ के लिए अन्धे और गूँगे हथियारों में बदल दिया था।

और ये अभागे, पीड़ित मनुष्य अविश्वासपूर्वक इन नवीन शब्दों के संगीत को सुनते, एक ऐसे संगीत को जिसके लिए उनके क्लान्त हृदय युगों से प्रतीक्षा कर रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने अपने सिर उठाये और अपने को उन चालाकी से भरी हुई झूठी बातों के जाल से मुक्त कर लिया जिसमें उनके शक्तिशाली और लालची अत्याचारियों ने उन्हें फँसा रखा था।

उनके जीवन में, जिसमें उदासी से भरा हुआ दमित असन्तोष व्याप्त था, उनके हृदयों में जो अनेक अत्याचार सहकर विषाक्त बन चुके थे, उनके मस्तिष्क में जो शक्तिशालियों की धूर्ततापूर्ण चतुरता से जड़ हो गया था – उस कठोर और दीन अस्तित्व में जो भयंकर अत्याचारों से सूख चुका था – एक सीधा सा दीप्तिमान शब्द व्याप्त हो उठा:

"कॉमरेड!"

यह शब्द उनके लिए नया नहीं था। उन्होंने इस सुना था और स्वयं भी इसका उच्चारण किया था। परन्तु तब तक इसमें भी वही रिक्तता और उदासी भरी हुई थी जो ऐसे ही अन्य परिचित और साधारण शब्दों में भरी रहती है जिन्हें भूले जाने से कोई नुकसान नहीं होता।

परन्तु अब इसमें एक नयी झंकार थी...सशक्त और स्पष्ट झंकार। एक नये अर्थ का संगीत व्याप्त था और एक हीरे के समान कठोर चमक और दिगन्तव्यापी ध्वनि थी।

उन्होंने इसे अपनाया और इसका उच्चारण किया... सावधानी से नम्रतापूर्वक और इसे अपने हृदय से इतने स्नेहपूर्वक चिपटा लिया जैसे माता अपने बच्चे को पालने में झुलाती है।

और जैसे-जैसे वे इस शब्द की जाज्वल्यमान आत्मा के भीतर प्रविष्ट होते गये, वह उन्हें उतना ही अधिक उज्ज्वल और सुन्दर दिखायी देता गया।

"कॉमरेड!" उन्होंने कहा।

और उन्होंने अनुभव किया कि यह शब्द सम्पूर्ण संसार को एक सूत्र में संगठित करने के लिए, सब मनुष्यों को आज़ादी की सबसे ऊँची चोटी तक उठाकर उन्हें एक-दूसरे के साथ नये बन्धनों में बाँधने के लिए – एक दूसरे का सम्मान करने के लिए तथा मनुष्य को स्वतन्त्रता की ओर ले जाने के लिए – इस संसार में आया है।

जब इस शब्द ने ग़ुलामों के हृदय में जड़ जमा ली तब वे ग़ुलाम नहीं रहे और एक दिन उन्होंने शहर और उसके शक्तिशाली शासकों से पुकारकर कहा –

"बस, बहुत हो चुका!"

इससे जीवन रुक गया क्योंकि ये लोग ही अपनी शक्ति से इसका संचालन करते थे – केवल यही लोग, और कोई नहीं। पानी बहना बन्द हो गया, आग बुझ गयी, नगर अन्धकार में डूब गया और शक्तिशाली लोग बच्चों के समान असहाय हो उठे।

अत्याचारियों की आत्मा में भय समा गया। अपने ही मल-मूत्र की दम घोंटने वाली दुर्गन्ध से व्याकुल हो उन्होंने विद्रोहियों के प्रति अपनी घृणा का गला घोंट दिया और उनकी शक्ति को देख किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये।

भूख का पिशाच उनका पीछा करने लगा और उनके बच्चे अन्धकार में आर्त स्वर से रोने लगे।

घर और गिरजे अवसाद में डूब गये और पत्थर और लोहे

(पेज 15 पर जारी)

कॉमरेड: एक कहानी

(पेज 14 से आगे)

के क्रूर अट्टहास में घिरी हुई सड़कों पर मृत्यु की-सी भयावनी निस्तब्धता छा गयी। जीवन गतिहीन हो गया क्योंकि जिस शक्ति ने इसे उत्पन्न किया था वह अब अपने अस्तित्व के प्रति सजग हो उठी थी और ग़ुलाम मनुष्य ने अपनी इच्छा को प्रकट करने वाले चमत्कारपूर्ण और अजेय शब्द को पा लिया था। उसने अपने को अत्याचार से मुक्त कर अपनी शक्ति को, जो विधाता की शक्ति थी, पहचान लिया था।

शक्तिशालियों के लिए वे दिन दूर न थे क्योंकि वे लोग अपने को इस जीवन का स्वामी समझते थे। वह रात हज़ार रातों के समान थी, दुख के समान गहरी। मुर्दे के समान उस नगर में चमकने वाली बत्तियाँ अत्यन्त धूमिल और अशक्त थीं। वह नगर शताब्दियों के परिश्रम से बना था। वह राक्षस जिसने मनुष्यों का रक्त चूस लिया था अपनी सम्पूर्ण कुरूपता को लेकर उनके सामने खड़ा हो गया था – पत्थर और काठ के एक दयनीय ढेर के समान। मकानों की अँधेरी खिड़कियाँ भूखी और दुखी-सी सड़क की ओर झाँक रही थीं जहाँ जीवन के सच्चे स्वामी हृदय में एक नया उत्साह लिये चल रहे थे। वे भी भूखे थे, वास्तव में दूसरों से अधिक भूखे, परन्तु उनकी यह भूख की वेदना उनकी परिचित थी! उनका शारीरिक कष्ट उन्हें इतना असह्य नहीं था जितना कि जीवन के उन स्वामियों को। न इसने उनकी आत्मा में प्रज्ज्वलित उस ज्वाला को ही कम किया था। वे अपनी शक्ति का परिचय पाकर उत्तेजित हो रहे थे। आने वाली विजय का विश्वास उनकी आँखों में चमक रहा था।

वे नगर की सड़कों पर घूम रहे थे जो उनके लिए एक उदास, दृढ़ कारागृह के समान थीं। जहाँ उनकी आत्मा पर असंख्य चोटें पहुँचायी गयी थीं। उन्होंने अपने परिश्रम के महत्त्व को देखा और इसने उनको जीवन का स्वामी बनने के पवित्र अधिकार के प्रति सजग बना दिया, जीवन के नियम बनाने वाला तथा उसे उत्पन्न करने वाला। और फिर एक नयी शक्ति के साथ, एक चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली चमक के साथ, सबको संगठित करने वाला वह जीवनदायी, शब्द गूँज उठा।

"कॉमरेड!"

यह शब्द वर्तमान के झूठे शब्दों के बीच भविष्य के सुखद सन्देश के समान गूँज उठा, जिसमें एक नया जीवन सबकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह जीवन दूर था या पास? उन्होंने महसूस किया कि वे ही इसका निर्णय करेंगे। वे आज़ादी के पास पहुँच रहे थे और वे स्वयं ही उसके आगमन को स्थगित करते जा रहे थे।

3

उस वेश्या ने भी जो कल एक आधे जानवर के समान थी और गन्दी गलियों में थकी हुई इस बात का इन्तज़ार करती रहती थी कि कोई आये और दो पैसे देकर उसके सूखे ठठरी के समान शरीर को ख़रीद ले, उस शब्द को सुना परन्तु मुस्कराते हुए परेशान-सी होकर उसने इसका उच्चारण करने का साहस किया। एक आदमी उसके पास आया, उनमें से एक आदमी, जिन्होंने इससे पहले इस रास्ते पर क़दम नहीं रखा था, और उससे इस प्रकार बोला जैसे कोई अपने भाई से बोलता है:

"कॉमरेड!" उसने कहा।

वह इस प्रकार मधुरता और लज्जापूर्वक हँसी जिससे अत्यधिक प्रसन्नता के कारण रो न उठे। उसके दुखी हृदय ने इससे पूर्व इतनी प्रसन्नता का अनुभव कभी नहीं किया था। आँसू, एक पवित्र और नवीन सुख के आँसू, उसकी उन आँखों में चमकने लगे जो कल तक पथरायी हुई और भूखी निगाह से संसार को घूरा करती थीं। परित्यक्तों की, जिन्हें संसार के श्रमिकों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया था, यह प्रसन्नता, नगर की सड़कों पर चारों ओर चमकने लगी और नगर के घरों की धुँधली आँखें इसे बढ़ते हुए द्वेष और क्रूरता से देखने लगी।

उस भिखारी ने भी यह शब्द सुना, जिसे कल तक बड़े आदमी, उससे पीछा छुड़ाने के लिए एक पैसा फेंक दिया करते थे और ऐसा करके यह समझते थे कि आत्मा को शान्ति मिलेगी। यह शब्द उसके लिए पहली भीख के समान था जिसने उसके ग़रीब, निर्धनता से नष्ट होते हुए हृदय को प्रसन्नता और कृतज्ञता से भर दिया था।

वह ताँगेवाला, एक छोटा-सा भद्दा आदमी, जिसके ग्राहक उसकी पीठ में इसलिए घूँसे मारते थे जिससे उत्तेजित होकर वह अपने भूखे, टूटे शरीर वाले टट्टू को तेज़ चलाने के लिए हण्टर फटकारे। वह आदमी घूँसे खाने का आदी था। पत्थर की सड़क पर पहियों से उत्पन्न होने वाली खड़खड़ाहट की ध्वनि से जिसका दिमाग़ जड़ हो गया था, उसने भी ख़ूब अच्छी तरह से मुस्कराते हुए एक रास्ता चलने वाले से कहा :

"ताँगे पर चढ़ना चाहते हो...कॉमरेड?"

यह कहकर, इस शब्द की ध्वनि से भयभीत होकर उसने घोड़े को तेज़ चलाने के लिए लगाम सँभाली और उस राहगीर की तरफ़ देखा। वह अब भी अपने चौड़े, लाल चेहरे से मुस्कुराहट दूर करने में असमर्थ था।

उस राहगीर ने प्रेमपूर्वक उसकी ओर देखा और सिर हिलाते हुए बोला:

"धन्यवाद, कॉमरेड! मुझे ज़्यादा दूर नहीं जाना है।"

अब भी मुस्कराते और प्रसन्नता से अपनी आँखें झपकाते वह ताँगेवाला अपनी सीट पर मुड़ा और सड़क पर खड़खड़ाहट का तेज़ शोर मचाते हुए चला गया।

फुटपाथों पर आदमी बड़े-बड़े झुण्डों में चल रहे थे और चिनगारी के समान वह महान शब्द, जो संसार को संगठित करने के लिए उत्पन्न हुआ था, उन लोगों में इधर से उधर घूम रहा था।

"कॉमरेड!"

एक पुलिस का आादमी – गलमुच्छेवाला, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण, एक झुण्ड के पास आया, जो सड़क के किनारे भाषण दे रहे वृद्ध मनुष्य के चारों ओर इकट्ठा हो गया था। कुछ देर तक उसकी बातें सुनकर उसने नम्रतापूर्वक कहा।

"सड़क पर सभा करना क़ानून के ख़िलाफ़ है...तितर-बितर हो जाओ, महाशयो..."

और एक क्षण रुककर उसने अपनी आँखें नीची कीं और धीरे-से बोला :

"कॉमरेडो..."

उन लोगों के चेहरों पर, जो इस शब्द को अपने हृदय में सँजोये हुए थे और जिन्होंने अपने रक्त और मांस से इसे और एकता की पुकार की तीव्र ध्वनि को बढ़ाया था – निर्माता का गर्व झलकने लगा। और यह स्पष्ट हो रहा था कि वह शक्ति, जिसे इन लोगों ने मुक्तहस्त होकर इस शब्द पर व्यय किया था, अविनाशी और अक्षय थी।

उन लोगों के ख़िलाफ़, भूरी वर्दी पहने हथियारबन्द आदमियों के अन्धे समूह एकत्रित होने लगे थे। वे चुपचाप एक-सी पंक्तियों में खड़े थे। अत्याचारियों का क्रोध उन विद्रोहियों पर, जो न्याय के लिए लड़ रहे थे, फट पड़ने को तैयार था।

उस नगर की टेढ़ी-मेढ़ी सँकरी गलियों में अज्ञात निर्माताओं द्वारा बनायी हुई ठण्डी, ख़ामोश दीवारों के भीतर मनुष्य के भाईचारे की भावना फैल रही थी और पक रही थी।

"कॉमरेडो!"

जगह-जगह आग भड़क उठी जो एक ऐसी ज्वाला में फूट पड़ने को प्रस्तुत थी जो सारे संसार को भाईचारे की मज़बूत और उज्ज्वल भावना में बाँध देने वाली थी। वह सारी पृथ्वी को अपने में समेट लेगी और उसे सुखा डालेगी। द्वेष, घृणा और क्रूरता की भावनाओं को जलाकर राख बना देगी जो हमारे रूप को विकृत बनाती हैं। वह सारे हृदयों को पिघलाकर उन्हें एक हृदय में – केवल एक हृदय में ढाल देगी। सरल और अच्छे स्त्री-पुरुषों का हृदय परस्पर सम्बन्धित स्वतन्त्र काम करने वालों का एक सुन्दर स्नेहपूर्ण परिवार बन जायेगा।

उस निर्जीव नगर की सड़कों पर जिसे ग़ुलामों ने बनाया था, नगर की उन गलियों में जहाँ क्रूरता का साम्राज्य रहा था, मानव में विश्वास तथा अपने ऊपर और संसार की सम्पूर्ण बुराइयों पर मानव की विजय की भावना बढ़ी और शक्तिशाली बनी।

और उस बेचैनी से भरे हुए नीरस अस्तित्व के कोलाहल में, एक दीप्तिमान, उज्ज्वल नक्षत्र के समान, भविष्य को स्पष्ट करने वाली उल्का के समान, वह हृदय को प्रभावित करने वाला सादा और सरल शब्द चमकने लगा :

"कॉमरेड!"

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

कोरोना वैक्सीन के नाम पर जारी है बेशर्म राजनीति

वैज्ञानिक उपलब्धि की वाहवाही लूटने की सनक में लोगों की ज़िन्दगी से खिलवाड़

– आनन्द सिंह

मोदी सरकार देश में हर उपलब्धि का सेहरा ख़ुद के सिर बाँधने और हर विफलता का ठीकरा विपक्षी दलों पर फोड़ने के लिए कुख्यात है। कोरोना महामारी के दौर में भी सरकार का ज़ोर इस महामारी पर क़ाबू पाने की बजाय ख़ुद के लिए वाहवाही लूटने पर रहा है। जिन लोगों की राजनीतिक याददाश्त कमज़ोर नहीं है उन्हें याद होगा कि किस प्रकार सरकार ने इण्डियन काउंसिल ऑफ़ मेडिकल रिसर्च के ज़रिये वैक्सीन बनाने वाली कम्पनियों पर दबाव डाला था कि 15 अगस्त तक कोरोना की वैक्सीन तैयार हो जानी चाहिए ताकि प्रधान सेवक महोदय लाल किले से दहाड़कर वैक्सीन की घोषणा कर सकें और ख़ुद की पीठ थपथपा सकें। लेकिन अफ़सोस, प्रधान सेवक का यह सपना साकार न हो सका क्योंकि उस समय वैक्सीन निर्माण की प्रक्रिया बहुत शुरुआती मंज़िल में थी!

उसके बाद बिहार विधान सभा चुनाव में भी भाजपा की ओर से यह वायदा किया गया कि अगर बिहार में भाजपा की सरकार बनी, तो कोरोना वैक्सीन सभी को मुफ़्त में उपलब्ध करायी जायेगी। उस समय भी कोरोना वैक्सीन अभी दूर की ही कौड़ी थी। उसके बाद दिसम्बर में प्रधान सेवक महोदय ने वैक्सीन बनाने वाली कम्पनियों के परिसर में पहुँचकर वैज्ञानिकों को अपना परम ज्ञान देते हुए फ़ोटो सेशन करवाया मानो वैज्ञानिकों को वैक्सीन की खोज के लिए इसी प्रेरणा का इन्तज़ार था। अब जबकि दुनियाभर के वैज्ञानिकों के अथक प्रयास के परिणामस्वरूप कोरोना वैक्सीन एक वास्तविकता बनती दिख रही है, तो मोदी सरकार भला इस मौक़े को कैसे गँवा सकती है। वैज्ञानिकों की इस उपलब्धि का श्रेय ख़ुद को देने को आतुर मोदी सरकार के सब्र का प्याला छलक चुका है और इसीलिए नये साल की शुरुआत में ही वैक्सीन निर्माण की प्रक्रिया पूरी किये बिना ही दो भारतीय कम्पनियों, सीरम इंस्ट्रीट्यूट और भारत बायोटेक, द्वारा विकसित वैक्सीनों के आपातकालीन उपयोग को हरी झण्डी दे दी गयी है और इसका ज़ोर-शोर से प्रचार शुरू कर दिया गया है।

इन दो वैक्सीनों, कोविशील्ड और कोवैक्सीन, को आनन-फ़ानन में हरी झण्डी मिलने से पहले ही पिछले कई हफ़्तों से अख़बारों के पन्ने वैक्सीन लगाने की तैयारियों की ख़बरों से पटे देखे जा सकते थे। इन ख़बरों में वैज्ञानिकों द्वारा वैक्सीन निर्माण से सम्बन्धित शोध से सम्बन्धित जानकारी कम और सरकार की तैयारियों पर ही ज़्यादा जानकारी होती थी मानो प्रधानमंत्री और भाजपा के नेता व मंत्री ख़ुद ही प्रयोगशाला में बैठकर वैक्सीन बना रहे हों। टीवी पर तो एक चैनल ने मोदी को 'वैक्सीन गुरु' ही घोषित कर दिया था!

भारतीय कम्पनियों द्वारा विकसित दो वैक्सीनों को हरी झण्डी देने में राजनीतिक दबाव को इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि वैक्सीन निर्माण की प्रक्रिया के सभी चरणों का पालन किये बिना आनन-फ़ानन में उन्हें मंज़ूरी मिल गयी।

ग़ौरतलब है कि वैक्सीन निर्माण की प्रक्रिया बहुत लम्बी होती है जिसमें सबसे पहले दवा का परीक्षण जानवरों पर किया जाता है। जानवरों में कारगर पाये जाने पर वैक्सीन का इन्सानों पर क्लिनिकल ट्रायल किया जाता है। मंज़ूरी मिलने के लिए किसी वैक्सीन को क्लिनिकल ट्रायल के तीन चरणों से होकर गुज़रना होता है जिनमें आम तौर पर हर चरण में वर्षों का समय लगता है। वैक्सीन विकसित होने में सामान्यतया 8-10 वर्ष तक लगते हैं। कोरोना महामारी के मद्देनज़र इस प्रक्रिया को तेज़ किया गया है फिर भी हर चरण के ट्रायल में कई महीने का समय तो लगता ही है। पहले चरण में क़रीब 10 से 50 लोगों पर वैक्सीन का ट्रायल किया जाता है और यह देखा जाता है कि दवा सुरक्षित है या नहीं। दूसरे चरण में सैकड़ों लोगों पर ट्रायल किया जाता है जिसमें मुख्य रूप से यह देखा जाता है कि दवा की कितनी ख़ुराक ज़रूरी है। इस चरण में भी दवा के साइड इफ़ेक्ट देखे जाते हैं। वैक्सीन निर्माण का सबसे अहम चरण तीसरा चरण होता है जिसमें भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वाले हज़ारों लोगों पर ट्रायल किया जाता है। इस चरण में यह परीक्षण किया जाता है कि वैक्सीन कितनी प्रभावी है। इनमें से किसी भी चरण में अगर लगता है कि लोगों को नुक़सान हो रहा है, तो परीक्षण रोक दिया जाता है।

आम तौर पर ये तीनों चरण एक के बाद एक किये जाते हैं और एक चरण की मंज़ूरी मिलने के बाद ही अगले चरण का ट्रायल शुरू होता है, लेकिन कोरोना वैक्सीन को जल्द से जल्द विकसित किये जाने की होड़ में इन तीनों चरणों को एक साथ समान्तर चलाया गया जिसकी वजह से ऑक्सफ़ोर्ड-ऐस्ट्रा ज़ेनेका, फ़ाइज़र व मॉडर्ना जैसी कम्पनियों द्वारा तैयार वैक्सीन की सुरक्षा और प्रभाविता पर प्रश्न उठाये जा रहे हैं। इन वैक्सीन के क्लिनिकल ट्रायल के दौरान कुछ लोगों को तंत्रिका सम्बन्धी समस्याएँ हुई थीं। इसके अतिरिक्त कोरोना वायरस की नयी क़िस्मों, जैसे ब्रिटेन व दक्षिण अफ्रीका में पायी गयी क़िस्मों, पर ये वैक्सीन कितनी प्रभावी होंगी इसके बारे में अभी दावे के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता है।

इनमें सबसे चिन्ताजनक है भारत में तैयार की जा रही वैक्सीनों का मामला। भारत बायोटेक द्वारा विकसित की जा रही 'कोवैक्सीन' के मामले में तो तीसरे चरण की प्रभाविता के डेटा के बिना ही उसे मंज़ूरी दे दी गयी जिसके नतीजे बेहद ख़तरनाक हो सकते हैं। सीरम इंस्टीट्यूट की वैक्सीन के ट्रायल में शामिल एक व्यक्ति के स्वास्थ्य को गम्भीर नुक़सान होने का दाव करते हुए कम्पनी पर पाँच करोड़ रुपये मुआवज़ा का मुक़दमा किया गया है। इस पर कम्पनी ने उसे चुप कराने के लिए फ़ौरन उस पर 100 करोड़ रुपये की मानहानि का मुक़दमा ठोंक दिया।

विशेषज्ञों ने ड्रग कण्ट्रोलर जनरल ऑफ़ इण्डिया द्वारा भारत की दो वैक्सीनों को आपातकालीन इस्तेमाल के लिए मंज़ूरी देने पर गम्भीर सवाल उठाये हैं। उनका कहना है कि क्लिनिकल ट्रायल के सभी चरणों के पूरे डेटा के बिना ऐसी आपातकालीन मंज़ूरी से लोगों की सेहत पर बुरा असर पड़ सकता है और वैक्सीन पर लोगों का भरोसा कम हो सकता है। इस मंज़ूरी को देते समय जिस भाषा का उपयोग किया गया है वह गुमराह करने वाली है क्योंकि उससे ऐसा लगता है कि मंज़ूरी मिलने के बाद भी क्लिनिकल ट्रायल जारी रहेगा। यानी, एक तरह से जिन लोगों को टीका लगाया जायेगा वह भी परीक्षण में ही शामिल होंगे।

इसके अलावा मंज़ूरी देने की इस पूरी प्रक्रिया में बरती गयी अपारदर्शिता पर भी सवाल उठ रहे हैं। जिस सब्जेक्ट एक्सपर्ट कमेटी की सिफ़ारिश के आधार पर ये मंज़ूरी दी गयी है उसके सदस्यों का ब्योरा और उनकी मीटिंग के मिनट्स सार्वजनिक नहीं किये गये हैं। इसके अलावा इन वैक्सीन पर किये गये शोध को किसी विशेषज्ञों की समीक्षा से गुज़रने वाली किसी शोध पत्रिका में प्रकाशित भी नहीं किया गया है, जोकि ऐसे अनुसन्धानों के मामले में किया जाता है। इन वजहों से इन दो वैक्सीन, ख़ासकर कोवैक्सीन, पर गम्भीर सवालिया निशान उठने लाज़िमी हैं।

इसके अतिरिक्त एनडीटीवी में आयी एक ख़बर के अनुसार कोरोना की इन वैक्सीन का क्लिनिकल ट्रायल भोपाल गैस पीड़ितों के एक मोहल्ले में किया गया था जहाँ लोगों को यह जानकारी ही नहीं दी गयी थी कि यह क्लिनिकल ट्रायल है। एनडीटीवी के रिपोर्टर ने जिन लोगों का इण्टरव्यू लिया उन्होंने बताया कि उन्हें क्लिनिकल ट्रायल से सम्बन्धित कोई जानकारी नहीं दी गयी थी और उन्हें यही लग रहा था कि यह कोरोना की दवा थी। यही नहीं कई लोगों को इस ट्रायल में शामिल होने के लिए 750 रुपये भी दिये गये थे। इससे स्पष्ट है कि कोरोना की वैक्सीन बनाने की इस पूरी प्रकिया में ग़रीबों को गिनी पिग की तरह इस्तेमाल किया गया।

कोरोना महामारी की शुरुआत से ही भारत के फ़ासिस्ट शासक इस आपदा में भी अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने के लिए अवसर तलाशते रहे हैं। वे अब इतने बेशर्म हो चुके हैं कि लोगों की ज़िन्दगी से खिलवाड़ करने में उन्हें ज़रा-सा भी संकोच नहीं होता है।

सोचने की बात है कि आख़िर वैक्सीन जैसी चीज़, जिससे करोड़ों लोगों की जीवन-मृत्यु का सवाल जुड़ा हुआ है, उसे लेकर इस क़दर सन्देह का माहौल कैसे और क्यों बन गया है? भारत में तो मोदी सरकार राजनीतिक फ़ायदा उठाने की घटिया कोशिश में हर चीज़ को मज़ाक या सन्देह की वस्तु बना ही देती है, पर दुनिया के दूसरे देशों में बन रही वैक्सीन भी गम्भीर सवालों और सन्देह के घेरे में हैं, चाहे फ़ाइज़र, एस्ट्राज़ेनेका या मॉडर्ना जैसी कम्पनियों की वैक्सीन हो, या चीन और रूस की। जवाब है, पूँजीवाद। इस मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था में दवाओं का विकास लोगों की सेहत और जान बचाने के लिए नहीं, बल्कि अरबों-खरबों की कमाई के लिए ही किया जाता रहा है। मगर पूँजीवाद का संकट अब जहाँ पहुँच चुका है, उसमें करोड़ों लोगों की जान जोखिम में डालना दवा कम्पनियों के लिए कोई बड़ी बात नहीं है।

होना तो यह चाहिए था कि मनुष्यता के सामने आये इस संकट से पार पाने के लिए सारी दुनिया के वैज्ञानिक और चिकित्सक मिलकर वैक्सीन और दवाएँ विकसित करते और सारी दुनिया के सभी लोगों को उन्हें निःशुल्क उपलब्ध कराया जाता। मगर पूँजीवाद में यह सम्भव ही नहीं है। आपसी होड़ में लगी कम्पनियाँ और सरकारें अपने-अपने फ़ायदे के लिए एक-दूसरे को पछाड़ने में लगी हैं। टीका बनने के बाद भी यह समाज के हर व्यक्ति को उपलब्ध हो पायेगा, इसकी उम्मीद भी कम ही है, ख़ासकर भारत जैसे देशों में, जहाँ बहुसंख्यक आबादी बुनियादी इलाज की सुविधाओं से भी वंचित है। बिहार में मुफ़्त वैक्सीन का चुनावी वायदा उछालने वालों के राज में अब कहा जा रहा है कि आम जनता के लिए टीका "1000 रुपये से ज़्यादा महँगा नहीं होगा!" अमीरों को कोई चिन्ता नहीं, वे तो अमेरिका और ब्रिटेन से वैक्सीन मँगवाकर, या वहाँ जाकर भी टीका लगवा लेंगे। मगर जो ग़रीब मेहनतकश कुछ सौ रुपये के ख़र्च के कारण सामान्य बीमारियों का भी ठीक से इलाज नहीं करवा पाता, उसे यह वैक्सीन भी नसीब नहीं होगी।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006